CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

12.2

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड २५, अंक २-३

मार्च - अगस्त २००५

भारतीय सौर फाल्गुन -भाद्रपद शके १९२४-२५

संस्थापक संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे

प्रधान संपादक : सुभाषचन्द्र भेलके

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की चिंतनपरक त्रैमासिक पत्रिका (नूतनमालिका)
(भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान मन्दिर' हिंदी, अमलनेर)

संपादक मण्डल
चंद्रकांत बांदिवडेकर
गजानन चव्हाण
एन. जी. कुलकर्णी
सुरजीत कौर चहल

सलाहकार संपादक मण्डल
विजयकुमार भारद्वाज
भुवन चण्डेल
आर्. बालसुब्रमणिअन
छाया राय
अशोक वोहरा
अशोक केळकर

प्रकाशनार्थ लेखनसामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए :
प्रधान संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११००७

सदस्यता शुल्क :

आजीवन	संस्थाओं के लिए	रु. २५००/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. १०००/-
वार्षिक	संस्थाओं के लिए	रु. १२५/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. १००/-
एक प्रति का मूल्य		३५/-

सदस्यता शुल्क मनीऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा ही रजिस्ट्रार, पुणे विश्वविद्यालय के नाम पत्रिका के पते पर भेजा जाए। (धनादेश से भुगतान में रु.२०/- अधिक जोड दें)

आजीवन सदस्यता शुल्क एक या दो समान किश्तों में भेजा जा सकता है।

अंक न मिलने की सूचना अंक प्रकाशित होने बाद एक महीने के भीतर मिलने पर, अंक बचे हों तो, पुनः भेजा जाएगा ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संपादकीय

सामाजिक जीवन के दो प्रमुख आयाम हैं । एक है, संस्थात्मक आयोजनों से संगठित आयाम और दूसरा किसी भी विशेष या औपचारिक ढाँचे से मुक्त स्वाभाविक समाज-रचना का आयाम । समाजजीवन की सुयोग्यता के लिए कुछ मूल्यों तथा आदर्शों का होना जरूरी होता है । संस्थात्मक ढाँचे मे बद्ध समाज के मूल्यों को कानूनी मूल्यों जैसा महत्त्व प्राप्त होने लगा है । कानूनी मूल्यों में निहित जिम्मेदारियों को शक्तिहीन बनाकर व्यक्तिगत लाभकारी मूल्यों के आधारपर निर्बन्धविहीनता का आचरण अधिक बढ गया है। इससे सामाजिकता की नींव मजबूत होने के बजाय व्यक्तिनिष्ठता बढने लगी है । सामाजिकता को विशेष रूप देनेवाला संस्था का ढाँचा उस व्यक्ति को अधिक सुरक्षा देता है जो व्यक्ति अपनी जिम्मेदारियाँ पूरी किये बिना ही लाभान्वित जीवन पाता है । समाज की ऐसी रचना में व्यवस्था को विशेष स्थान है। संस्था के ढाँचे के कारण उसमें कोई व्यवस्था होती है। यह व्यवस्था मानवनिर्मित होते हुए भी उसे प्राकृतिक व्यवस्था जैसा माना जाता है । इस व्यवस्था को धारण और कार्यान्वित करनेवाले मनुष्यही होते हैं। व्यक्तिगत स्वार्थ की गुंजाईश कम करने के हेतु व्यवस्था को प्राथमिकता दी जाती है। लेकिन व्यवस्था के केन्द्र में जो लोग होते हैं वे अपनी मनमानी से विषमतापूर्ण व्यवहार करते हैं और अपनी जिम्मेदारी टालने के हेतु व्यवस्था के आडे रहकर व्यवस्था का बहाना बनाते हैं और अपनी जिम्मेदारियों से हाथ धो डालते हैं। हमारी न्यायपालिका ऐसी स्थिति को सुधारने में सफलता नहीं दिखा पायी है। क्योंकि सामाजिकता इतनी हदतक कानून के दायरे में नहीं आती है, नहीं आनी चाहिए । लेकिन निर्बंधों को कम करने की कोशिश में कुछ लोगों की प्रवंचना बढती जा रही है । सामाजिक न्याय की आज की समस्या इस तरह केंद्र से दूरी पर रहनेवालों की प्रवंचना के रूप में उभर रही है । समाज-रचना की विषमता ने निम्न स्तर के लोगों को वंचित रखा। गुलामी के आधार पर बनायी समाज-रचना ने भी गुलामों को वंचित रखा । आज सत्ताकेंद्र से दूर रहे लोग वंचित रहने लगे हैं । इस बात का अहसास होने के कारण प्रायः बहुतेरे लोग सत्ताकेंद्र को हासिल करने की होड में लगे रहते हैं । इस कोशिश में जो नैतिक हिंसा होती रहती है उसकी कोई सोचता नहीं है । यह भी एक संघर्ष है । ऐसे संघर्ष से अमृत कभी निकलता नहीं है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हमारी समाज-व्यवस्था में यह जहरीलापन घोला जा रहा है । व्यवस्था के आडे रहकर स्वार्थ और स्वार्थी की सुरक्षा हो रही है । सत्ता-केंद्र में और उसके पास रहनेवाले उनसे दूर होनेवालों को वंचित कर रहे हैं । यह वह बेला है जब विद्रोह की चिन्गारी किसी भी समय फूट सकती है । अगर व्यवस्था सजग होकर अपने आप सुधर न पाए तो चिन्गारी से उभरे तपन से ही शुद्धि हो सकती है । इस तपश्चर्या के लिए हमें कटिबद्ध होना है । यह भी एक यज्ञ ही होगा । हमारी परंपरा यज्ञ की रह चुकी है । अज्ञान और विपरीत ज्ञान का हवि अर्पण करके हमने ज्ञानयज्ञ किये हैं । अब वंचना, प्रवंचना को हवि देकर न्याय-यज्ञ को सफल बनाना है ।

— सुभाषचंद्र भेलके..

कुछ अर्से से पत्रिका के प्रकाशन में व्यवधान रहा इसके लिए हम अपने पाठकों एवं सदस्यों के क्षमाप्रार्थी हैं । हम कोशिशें और आशा करते हैं कि इन व्यवधानों को दूर करके पत्रिका की शृंखला संतत रहेगी ।

संपादक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लॉक के दर्शन में 'व्यक्ति' और व्यक्तिगत तादात्म्य

पाश्चात्य दर्शन में व्यक्तिगत तादात्म्य सम्बन्धि एक समस्या प्रचलित रही है कि एक व्यक्ति को कैसे परिभाषित किया जा सकता है और उसके वही व्यक्ति होने का अर्थात् उसके व्यक्तिगत तादात्म्य का मानदंड कैसे निर्धारित होता है । वैसे तो इन विचारों के बीज प्लेटो और डेकार्ट के दर्शन में देखे जा सकते हैं लेकिन लॉक के दर्शन में यह विचार कुछ अधिक स्पष्ट रूप से मिलता है । लॉक के अनुसार, व्यक्ति एक ऐसी विचारवान् बुद्धिशील सत्ता है जिसमें तर्कणा एवं चिंतन है और जो विभिन्न समयों व स्थानों में अपने-आपको, स्वयं के रूप में - उसी विचारशील सत्ता के रूप में - देख सकती है । ऐसा उसी चेतना के कारण सम्भव होता है जो विचारणा से अभिन्न है और उसके लिए अनिवार्य है क्योंकि लॉक के अनुसार यह असंभव है कि कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष करता हो और उसे यह प्रत्यक्ष न हो कि वह प्रत्यक्ष करता है । जब भी हम देखते, सुनते, सूँघते, चखते, अनुभूति करते हैं तो हम यह भी जानते होते हैं कि हम ऐसा कर रहे हैं या जान रहे हैं । हमारे वर्तमान-कालिक संवेदनों व प्रत्यक्षों के साथ सदा यही होता है । इसलिए प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने लिए वह है जिसे वह 'आत्म' कहता है क्योंकि विचारणा के साथ चेतना सदा संलग्न रहती है और इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति वह होता है जिसे 'स्व' वा 'आत्म' कहते हैं और फलस्वरूप अपने आपको अन्य सभी विचारशील प्राणियों से पृथक् करके देखता है । व्यक्ति का तादात्म्य इसी में निहित है अर्थात एक बौद्धिक प्राणी की आत्म-भिन्नता में निहित है और इस चेतना को जितना भी अतीत के कार्यों या विचारों तक ले लाया जा सकता है, वहीं तक व्यक्ति की तद्रूपता या तादात्म्य है । इस समय यह वही 'आत्म' है जो उस समय था और इसी वर्तमान 'आत्म' द्वारा जो अब उस अतीत पर चिंतन कर रहा है, वह कार्य किया गया था ।

लॉक के अनुसार, केवल चेतना ही दूरस्थ सत्ताओं को एक ही व्यक्ति का रूप दे सकती है । द्रव्य (जड़तत्त्व) का तादात्म्य यह काम नहीं कर सकता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्योंकि चाहे जो भी द्रव्य हो और चाहे जिस भी रूप में हो, चेतना रहित कोई भी व्यक्ति नहीं होता । चेतना-रहित अन्य कोई भी द्रव्य या व्यक्ति उसी प्रकार हो सकता है जिस प्रकार एक मृत देह । इस प्रकार लॉक 'आत्म' या 'स्व' का तादात्म्य व्यक्ति से करते हैं । जहाँ व्यक्ति स्वयं अपने लिए 'आत्म' है वहीं दूसरे के लिए 'व्यक्ति' है । 'आत्म' एक प्रकार से व्यक्ति की एकरूपता है । चेतना द्वारा ही व्यक्ति की एकरूपता या उसके एकतत्त्व का निर्माण होता है, क्योंकि चेतना ही वह वस्तु है, जो क्रियाओं को एक ही व्यक्ति में संगठित करती है ।

लॉक कहते हैं कि यह जगत् द्रव्यों से संरचित है । द्रव्य, पिण्ड या शरीर तथा आत्मा दो प्रकार के गुणों व कार्यों के आधार हैं । शरीर या पिण्ड भौतिक द्रव्य है जिसका गुण विस्तार, ठोसता, अभेद्यता और परिवर्तनीयता या गतिशील होने की क्षमता है । भौतिक द्रव्यों के अतिरिक्त आध्यात्मिक द्रव्य या आत्मा भी है। आत्मा एक बौद्धिक सत्ता है, इसका गुण चिंतन करना या प्रत्यक्षीकरण की शक्ति है और इच्छा या शरीरों को गति रखने की शक्ति है । चिंतन आत्मा का सार नहीं है, बल्कि उसका कृत्य है । भौतिक द्रव्य के सदृश, आत्मा भी एक (अभौतिक या आध्यात्मिक) द्रव्य ही है । हम कुछ निश्चित भौतिक गुणों को एकसाथ रखकर और उनके लिए एक आश्रय मानकर शारीरिक या भौतिक द्रव्य को प्रत्यय संरचित करते हैं । हम अपने मनस् के क्रियाकलापों पर प्रतिबिम्बित या स्वसंवेदित कर (जैसे - चिंतन, बोध, संकल्प, इच्छा करना, जानना, गति करना आदि) और इन्हें धारक से जोड़कर आत्मद्रव्य को प्रत्यय संरचित करते हैं । लॉक कहते हैं, "तब यह स्पष्ट है कि जड़ में शारीरिक द्रव्य का प्रत्यय हमारे विचारों, प्रत्ययों व बुद्धि से वैसे ही दूर है जैसे आध्यात्मिक द्रव्य या आत्मा का प्रत्यय दूर है और इसलिए इस कथन से कि हमें आध्यात्मिक द्रव्य का प्रत्यय नहीं है, हम आत्मा के अनस्तित्व का निष्कर्ष नहीं निकाल सकते । बल्कि उसी आधार पर हम शरीर के अस्तित्व का निषेध कर सकते हैं ।"[१]

इस प्रकार लॉक इस बात पर तो निश्चित हैं कि उनमें एक आध्यात्मिक सत्ता है, जो देखती व सुनती इत्यादि है किन्तु वे अपेक्षाकृत इसपर निश्चित नहीं हैं कि उनके बाहर कोई भौतिक शरीर है अर्थात् शरीर की अपेक्षा लॉक आत्मा के अस्तित्व के प्रति अधिक आश्वस्त व निश्चित हैं । इसके अतिरिक्त,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

असंज्ञानात्मक जड़ पदार्थ और उसकी गति कभी भी विचार उत्पन्न नहीं कर सकती, केवल आत्म ही है जो और विचारों को उत्पन्न कर सकता है।

इस प्रकार लॉक इस बात पर निश्चित हैं कि वह अपना शरीर नहीं है, बल्कि वह अपनी आत्मा है क्योंकि आत्मा में 'सक्रिय होकर' निष्क्रिय शरीर को गतिमान करने की क्षमता है, और 'निष्क्रिय होकर' बाहर शरीरों से सम्बन्धित होते हुए आत्मा में परिवर्तन उत्पन्न करने की क्षमता है । हमारे सभी विचार एवं प्रत्यय आत्मा पर शरीर की क्रिया के कारण उत्पन्न होते हैं । वास्तव में शरीर की अपेक्षा आत्मा में गतिशीलता की सक्रिय शक्ति का प्रत्यय अधिक स्पष्ट रूप में मिलता है अर्थात् एक विस्तृत सत्ता की अपेक्षा एक चिंतनशील सत्ता अधिक सुगमतापूर्वक ग्राह्य व स्पष्ट है । लॉक कहते हैं कि मैं जानता हूँ कि वे लोग, जिनके विचार जड़तत्त्व में लीन हैं और जिन्होंने अपने मनसों को इन्द्रियों पर ऐसा आश्रित कर लिया है कि वे इनके पार शायद ही किसी चीज पर स्व-संवेदन या चिंतन करते हों, यही कहेंगे कि वे किसी भी चिंतनशील सत्ता को समझ या ग्रहण नहीं कर पाते, जो शायद सच हो, किन्तु मैं दृढता से कहता हूँ कि यदि वे इस सटीक ढंग से विचार करें तो पाएँगे कि वे कोई विस्तारवान् वस्तु (जड़ पदार्थ) को भी ग्रहण नहीं कर सकते ।"[२]

आत्मा व शरीर की चर्चा के बाद लॉक स्वयं का तादात्म्य आत्म के साथ (न कि शरीर के साथ) करने का प्रयास करते हैं । वह कहते हैं कि, "व्यक्तिगत तादात्म्य किसमें निहित है, यह जानने के लिए हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि वास्तव में 'व्यक्ति' का क्या अर्थ है, जो कि मेरे विचार से एक ऐसी चिंतनशील व बुद्धिमान् सत्ता है जिसमें तर्कणा एवं चिंतन है, और जो विभिन्न कालों एवं स्थलों में स्वयं को स्वयं के रूप में अर्थात् विचारशील सत्ता के रूप में देख सकती है और ऐसा उसी 'चेतना' के कारण होता है, जो चिंतन से अभिन्न व अपृथक् है और मुझे लगता है कि उसके लिए अनिवार्य है। चेतना सदा ही चिंतन से संलग्न रहती है और इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति वह होता है, जिसे आत्म कहते हैं और फलस्वरूप वह अपने आप को अन्य सभी विचारशील प्राणियों से पृथक् करके देखता है, इसी व्यक्तिगत तादात्म्य निहित है"[३] अर्थात् यह वही आत्मा है जो उस समय थी, और इसी वर्तमान आत्म द्वारा, जो अब उस अतीत पर चिंतन करता है, वह कार्य किया गया था। लॉक के अनुसार, यह 'आत्म' या 'तद् आत्म' ही है, जिसे किसी भी अतीत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के कार्यों या विचारों तक ले जाया जा सकता है ।

व्यक्तिगत तादात्म्य के विषय में लॉक का मानना है कि यह चेतना ही है जो व्यक्तिगत तादात्म्य (या व्यक्तिगत अनन्यता) को निर्मित करती है । इसी कारण कुछ समय-अंतराल के बावजूद भी एक व्यक्ति 'वही व्यक्ति' बना रहता है । लॉक के अनुसार, चेतना अपृथक् चिंतन है । इस चेतना के द्वारा ही हम स्वयं को स्वयं के रूप में जानते और पहचानते हैं याने एक स्थायी चिंतनशील सत्ता के रूप में जानते हैं । यह चेतना ही है जिसके द्वारा हमारी विभिन्न इन्द्रियाँ, प्रत्यक्ष, विचार एवं इच्छाएँ आदि किसी भी समय में एक ही सत्ता (आत्म) से संबद्ध रहती हैं और यह चेतना ही है जिसके द्वारा विभिन्न समयों में आत्म की तद्रूपता स्पष्ट होती है । लॉक कहते हैं "जितना ही इस चेतना को अतीत के कार्यों या विचारों तक पीछे ले जाया जा सकता है, वहीं तक व्यक्ति की अनन्यता या उसका तादात्म्य बना रहता है ।"[४]

इस सम्बन्ध में लॉक यहाँ दो बातों को साफ तौर पर निरस्त कर रहे हैं। एक तो मनुष्य से व्यक्ति का भेद करने में और इसलिए तद्मनुष्य से तद्व्यक्ति का भेद करने में लॉक यह बात नकार रहे हैं कि शारीरिक निरंतरता से व्यक्तिगत तादात्म्य निर्मित होता है । शारीरिक निरंतरता से तद्मनुष्य तो निर्मित होता है लेकिन तद् व्यक्ति नहीं । दूसरे, वह यह भी नकारते हैं कि तद्व्यक्ति का होना एक पृथक् स्थायी अभौतिक व आध्यात्मिक तत्त्व या आत्मा का होना है ।

लॉक स्पष्ट कहते हैं कि आध्यात्मिक तत्त्व (आत्मा) का अस्तित्व व्यक्तिगत तादात्म्य को निर्धारित नहीं करता क्योंकि (१) यदि आत्मारूपी तत्त्व हैं, तो अनुमानतः इनका पुनर्जन्म भी हो सकता है, और (२) यदि तद्आत्मा (तत्त्व या द्रव्य) में चेतन विचारों के वैकल्पिक समूह हों तो इस तरह एक आत्मा के साथ दो भिन्न व्यक्ति हो जाएँगे। जीवित शरीर और आत्मा-द्रव्य, दोनों के व्यक्तिगत तादात्म्य की अप्रासंगिकता के विषय में वह कहते हैं, "क्या हम दो भिन्न असम्प्रेषणीय चेतनाओं को एक ही शरीर पर क्रिया करते मान सकते हैं, एक दिन को निरंतरवान् हो, दूसरी रात को, ... एक मनुष्य सुकरात एवं प्लेटो की तरह दो भिन्न व्यक्ति नहीं हो सकता।"[५] इसी प्रकार, "जबकि हम जानते हैं कि एक अभौतिक चिंतनशील सत्ता अपने अतीत की चेतना से कमी अलग हो सकती है और पुनः जुड़ भी सकती है यानि स्मृति का एक पूर्ण किन्तु अस्थायी अभाव हो सकता है तो हम यह कल्पना कर सकते हैं कि उसी आत्मा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में स्मृति व विस्मृति के ये अंतराल रात और दिन, अपने-अपने क्रम से बदलते रहते हैं, और तब हमारे पास एक ही आत्मा के साथ दो व्यक्ति होंगे, वैसे ही जैसे पहले 'एक ही शरीर के साथ दो व्यक्ति' थे ।[६]"

वहीं इसके विपरीत, "यदि हमारे पास अंतरालों में क्रियाशील एक ही चेतना के साथ दो भिन्न शरीर हैं, तो दो भिन्न शरीरों में एक ही व्यक्ति होगा, वैसे ही जैसे एक ही व्यक्ति दो भिन्न कपड़ों में हो सकता है। और यह बात तब भी स्थापित रहती है यदि यहाँ दो भिन्न अभौतिक द्रव्य भी हों । अतः व्यक्तिगत तादात्म्य अनेक द्रव्यों के एक अनुक्रम में भी जारी रह सकता है, यह अभौतिक द्रव्य के परिवर्तन में संरक्षित रह सकता है .... जैसे प्राणिगत तादात्म्य भौतिक द्रव्यों के परिवर्तन में संरक्षित रहता है"[७] । लॉक इस साम्य का प्रयोग यह स्पष्ट करने के लिए करते हैं कि एक तद्चेतना हो सकती है जो एक आत्म-द्रव्य से दूसरे आत्म-द्रव्य पर होकर गुजरती हो । उसी प्रकार, यह चेतना एक शरीर से दूसरे शरीर की ओर भी गुजर सकती है । लॉक कहते हैं, "यदि एक राजकुमार की आत्मा, जिसमें उसके अतीत जीवन की चेतना निहित है, एक मोची, जिसकी आत्मा शरीर छोड़ चुकी है, के शरीर में प्रवेश कर जाती है तो हर कोई देखता है कि वह 'राजकुमार से तादात्म्यीकृत तद्व्यक्ति' होगा, जो केवल राजकुमार के कृत्यों के प्रति उत्तरदायी होगा ।[८] लॉक यह तद् मनुष्य और तद्व्यक्ति के बीच भेद रखने के लिए प्रयोग करते हैं । उनके अनुसार कोई यह नहीं कहेगा कि भूतपूर्व राजकुमार के रूप में यह वही मनुष्य है।

जे.एल.मैकी[९] के अनुसार, लॉक के विचार अनबूझ पहेली जैसे हो जाते हैं, जब वह कहते हैं कि एक शरीर में प्राणी-जीवन की निरंतरता और एक एकीकृत मानवीय इतिहास या चेतना की एकता सामान्यतया साथ-साथ चलती है, और एक अभौतिक आत्मतत्त्व की उपस्थिति इनका साथ देती है । लॉक ने ऐसे अनेक मामलों की कल्पना की जिसमें शरीर, चेतना और आत्मा की अनन्यता और विभिन्नता सभी एकसाथ नहीं चलती बल्कि कई तरह से संयुक्त और कई तरह से पृथक् रहती है। जैसे जैकील एवं हाईड के उदाहरण में, एक ही शरीर और एक ही आत्मा दो पृथक्-पृथक् चेतना की एकताओं याने दो पृथक् मानसिक इतिहासों से सम्बद्ध हैं । वहीं सुकरात और मेयर के उदाहरण में, एक ही आत्मा भिन्न शरीर और असंयुक्त चेतना के साथ है । राजकुमार-मोची के उदाहरण में, क्रमिक रूप से दो भिन्न शरीरों में एक ही आत्मा और एक ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चेतना है । उपर्युक्त संयोजनों के प्रकाश में लॉक यह दावा करते हैं कि इन सभी विविध संयोजनों में यह कहना स्वीकारणीय है कि तद्व्यक्ति वही होता है, जहाँ और केवल जहाँ तद्चेतना होती है। जीवित शरीर की तद्रूपता तद्व्यक्ति होने के लिए न ही अनिवार्य और न ही पर्याप्त है, और न ही आध्यात्मिक तत्त्व की तद्रूपता आवश्यक है । बल्कि व्यक्तिगत तादात्म्य चेतना की एकता पर आधारित है ।

लेकिन एन्टोनी फ्ल्यू[१०] भी लॉक के व्यक्तिगत तादात्म्य सम्बन्धी विचार पर आपत्तियाँ उठाते हैं कि लॉक द्वारा 'चेतना' शब्द का प्रयोग स्पष्ट व सुभिन्न रूप में नहीं किया गया है । कहीं इसका अर्थ 'स्वचेतन' प्रतीत होता है जैसे- "...एक सत्ता जो ... स्वयं को स्वयं के रूप में ही ग्रहण करती है .... वह ऐसा केवल उसी चेतना के द्वारा करती है जो चिंतन से अपृथक् है" ।[११] कभी-कभी यह अधिक सीधे तौर पर उस 'चेतना' के रूप में प्रतीत होती है जो बेहोशी के विपरित है । जैसे- 'आत्म' को एक चेतन चिंतनशील सत्ता के रूप में परिभाषित किया गया है .... "जो कि सुख-दुःख आदि के प्रति चेतन है, जो सुख-दुःख के संवादन के प्रति सक्षम है[१२] ।" परन्तु लॉक के मुख्य कथनों में चेतना को सामान्य रूप में स्मृति के समतुल्य ही रखा गया है जैसे "क्या हम ऐसी किसी सत्ता या आत्म की कल्पना कर सकते हैं जो अतीत के कार्यों की स्मृति से पूर्णतया रहित हो, जबकि हम पाते हैं कि हमारे मनस् हमेशा ही हमारे एक बड़ हिस्से हैं[१३] ।"

दार्शनिकों द्वारा लॉक पर यह भी आपत्ति उठाई जाती है कि यह स्वयं सिद्ध है कि व्यक्तिगत तादात्म्य की चेतना व्यक्तिगत तादात्म्य को केवल पूर्वानुमानित करती है, व्यक्तिगत तादात्म्य को निर्मित नहीं कर सकती, जैसा लॉक द्वारा कहा गया है । यह कहना निरर्थक है कि वाक्य 'He is the same person' का अर्थ है 'He can remember that he is the same person', क्योंकि ऐसे कथन जैसे "I remember doing, feeling, seeing something" आदि स्पष्ट रूप में यह तथ्य सूचित नहीं करते कि जो स्मरण किया गया है वह यह कि वक्ता वही व्यक्ति है । दूसरे, लॉक का मानदण्ड कहीं बहुत कठोर और कहीं बहुत कमजोर प्रतीत होता है । जहाँ 'तद्व्यक्ति' सम्बन्धी अभिव्यक्ति सफल रूप में प्रयुक्त हो सकती प्रतीत होती है, वहाँ उनका मानदण्ड इसके प्रयोग को रोक देता है । वहीं दूसरे मामलों में लॉक इस पद को लागू

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करने योग्य मानते हैं, जहाँ इनका प्रयोग उचित प्रतीत नहीं होता । इसके अतिरिक्त उनके द्वारा प्रयुक्त दो पदों 'Can' और 'Remember' में बहुत ही अस्पष्टता और दुर्बोधता है । यह स्पष्ट नहीं है कि Can पद का प्रयोग तथ्यात्मक रूप में है या तार्किक रूप में । 'Remember' शब्द में कहीं अधिक कठिनाई है । जैसे 'I know that P' और 'He is not lying' से यह आपादित नहीं होता कि 'P' है । उसी प्रकार, 'I remember' से आपादित होता है 'P' । किन्तु यदि यह कहा गया है कि 'He remembered P' और 'He was not lying' तो इससे यह आपादित नहीं होता कि 'P' है। क्योंकि किसी चीज के स्मरण का दावा करने वाले की सच्चाई को चुनौती नहीं देता बल्कि वह ज्ञान या स्मृति का दावा करने वाली प्रतिज्ञप्ति की सत्यता पर प्रश्न उठाता है और यदि प्रतिज्ञप्ति वास्तव में असत्य है तो यथार्थ-ज्ञान या सत्य-स्मृति के दावे को हराने हेतु यह पर्याप्त है । इसलिए हमें 'Genuine Remembering' (जिसमें स्मृति का दावा करने वाली प्रतिज्ञप्ति की सत्यता अनिवार्यतः निहित है) और 'Honest Memory Claim' (जिसमें प्रतिज्ञप्ति की सत्यता अनिवार्यतः निहित नहीं होती) में भी भेद स्पष्ट करना पड़ेगा । इस प्रकार 'Can और Remember' पदों की भिन्न-भिन्न वैकल्पिक व्याख्याएँ हो सकती हैं, जबकि इस सम्बन्ध में अस्पष्टता बनी रहती है ।

फ्ल्यू के अनुसार लॉक के विचारों में समस्या चार तरह से आती है । एक तो लॉक स्मृति के विषय में भ्रमित या अस्पष्ट हैं । दूसरे, लॉक चेतना को दो तरहों से प्रयोग करते हैं, एक, चेतना चिंतन के साथ तादात्म्यीकृत है दूसरे, चेतना पूर्ण अचेतनता के विपरित है । तीसरे, चेतना स्मृति के साथ तादात्म्यीकृत है। वह इस ज्ञानमीमांसीय प्रश्न के विषय में भी भ्रमित हैं कि 'हम व्यक्तिगत तादात्म्य सम्बन्धी प्रतिज्ञप्तियों को कैसे जान सकते हैं?' या 'हमारे पास व्यक्तिगत तादात्म्य सम्बन्धी प्रतिज्ञप्तियों के लिए क्या प्रमाण हो सकते हैं?' इसी से जुड़ा एक प्रश्न यह भी है कि 'इन प्रतिज्ञप्तियों के क्या अर्थ हैं ?' चौथे, लॉक व्यक्ति को एक चिंतनशील बुद्धिमान सत्ता के रूप परिभाषित करते हैं और वह यह परिभाषा चक्रक दोष को नजरअंदाज करते हुए देते हैं जो कि उनके 'Same thinking thing' के विचार में है। इसके अतिरिक्त यहाँ सर्वाधिक गहरी आपत्ति यह है कि यह परिभाषा 'व्यक्ति' पद के साधारण अर्थ और उसके प्रयोगों से भी चूक जाती है, उसपर ध्यान नहीं देती ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

फ्ल्यू के अनुसार, व्यक्ति का अर्थ कोई आध्यात्मिक और अशरीरी सत्ता नहीं है, बल्कि व्यक्ति का अर्थ है एक भौतिक शारीरिक सत्ता जिसका एक आकार रूप, रंग इत्यादि है । लॉक स्वयं भी स्वीकार करते हैं कि 'मनुष्य' (साधारण अर्थ में) और 'व्यक्ति' का उनका भेद या विभिन्न शरीरों में शरीरत्व या अशरीरत्व का सम्भावना का भेद, साधारण अर्थ या साधारण भाषा में नहीं किया गया है । लॉक कहते हैं, "मैं जानता हूँ कि साधारण अर्थ में कहने पर तद्व्यक्ति पद और तद्मनुष्य पद का अर्थ एक और वही सत्ता से है" ।[१४] लॉक यह समझने में बिल्कुल असफल रहे हैं कि यह 'व्यक्ति' पद महत्त्वपूर्ण कैसा है और इसके प्रयोग और समस्याएँ क्या हैं । यदि हम व्यक्ति पद का प्रयोग एक नये अर्थ में करते हैं तो हम तद्व्यक्ति के वर्णनात्मक विश्लेषण को प्रस्तुत करने के अवसर नष्ट कर देते हैं या स्वयं ही विश्लेषण की सम्भावनाएँ ही नष्ट कर देते हैं ।

फ्ल्यू के अनुसार लॉक का तद्व्यक्ति और तद्मनुष्य का भेद भी जाँच की माँग करता है । लॉक यह भेद क्यों करना चाहते हैं ? प्रथम, मनुष्य पद से भौतिक विशेषताएँ सूचित होती हैं और व्यक्ति पद से मानसिक या मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ सूचित होती हैं । मनोवैज्ञानिक विशेषताओं में किसी भी प्रकार का परिवर्तन उस व्यक्ति का परिवर्तन है, जिसके वे लक्षण हैं । लॉक के अनुसार व्यक्ति और व्यक्तिगत तादात्म्य के लिए भौतिक मानदण्ड पर्याप्त नहीं हैं । द्वितीय, व्यक्ति एक अदालती पद है ज़ो पुरस्कार व दण्ड के न्याय के अधिकार के लिए उत्तरदायी है जबकि मनुष्य पद ऐसा नहीं है[१५]। लेकिन यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि व्यक्ति केवल एक अदालती पद नहीं है जो कृत्यों को उनके गुणों को अपने अधिकार में लेता है बल्कि यह एक 'संज्ञा' भी है, जो सभी व्यक्तिगत सर्वनामों के अनुरूप है । तृतीय, मनुष्य व व्यक्ति का लॉक द्वारा किया गया भेद उनकी प्लेटॉनिक-कार्टेजियन विश्वास है कि व्यक्ति अनिवार्यतया अशरीरी या अभौतिक आत्माएँ हैं । यद्यपि मनुष्य के विचार में शरीर भी निहित है । फिर भी व्यक्ति चिंतनशील आत्मा है जो कि अनिवार्यतया मानवीय आकार या यहाँ तक की शारीरिक भी नहीं है[१६]। पुनः, मनुष्य पद उस चीज पर लागू होता है, जिसमें शरीर और आकार सम्मिलित होते हैं । लॉक का पहला प्रयास यह सिद्ध करना है कि हममें 'कुछ' है जिसमें चिंतन करने की शक्ति है । फ्ल्यू इस विचार का यह कहते हुए खण्डन करते हैं कि 'हम कभी-कभी चिंतन करते हैं' तो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इससे यह आपादित नहीं होता कि 'हममें कुछ है चिसमें चिंतन की शक्ति है।' चतुर्थ, लॉक के लिए व्यक्तिगत तादात्म्य अनिवार्य रूप से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उनके कार्य 'महान् दिवस' को जवाबदेह होंगे । परन्तु यह शर्त कभी भी पूरी नहीं की जा सकती क्योंकि उस दिन व्यक्ति मृत और दफन होगा और उसके लिए अपनी परीक्षा दे पाना असम्भव होगा । इन कठिनाइयों के अतिरिक्त कहा जा सकता है कि लॉक ने व्यक्तिगत तादात्म्य सम्बन्धी विचार रखने में अनजाने ही अमरता का सिद्धान्त निर्मित कर दिया है । दूसरे, लॉक व्यक्तिगत तादात्म्य को निर्धारित करने में स्मृति को उसका मानदण्ड मानते हैं लेकिन हम जानते हैं कि यह सत्य नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ असत्य स्मृति दावे की पूरी सम्भावना बनी रहती है । तीसरे, लॉक ने " 'Immaterial', 'Substance', 'Selves', 'Thinking Subject', 'Rationl Soul' " जैसे अनेक कठिन और दुर्बोध शब्दों का बहुत ही अस्पष्ट प्रयोग किया है । लॉक तद्व्यक्ति की परिभाषा या उसका मानदण्ड दे पाने में असफल हो जाते हैं । उनके अनुसार, व्यक्ति की तदरूपता अनुभवों एवं कृत्यों की सहचेतना भी किसी प्रकार आधारित है । परन्तु मैकी के अनुसार, यह सुझाव त्रुटिपूर्ण है "क्योंकि समय२ में एक मनुष्य सामान्यतया अपने समय१ के केवल कुछ अनुभवों और कृत्यों का स्मरण करता है, जबकि समय१ में जो बात एक 'व्यक्ति' को निर्मित करती है वह, उसके सभी अनुभव एवं कृत्य थे, जो सहचेतन थे, तो लॉक का विचार समय२ में तादात्म्यीकृत एक व्यक्ति को समय१ में तादात्म्य-योग्य किसी व्यक्ति के साथ समतुल्य करने में असफल रहता है । यह केवल इस बात का सिद्धान्त है कि कैसे कुछ वस्तुएँ, जो समय१ में तादात्म्ययोग्य व्यक्ति से सम्बन्धित हैं, एक व्यक्ति द्वारा अपनायी जाती हैं । जो समय में उसी भाँति तादात्म्यीकृत किया जा सकता है । इसलिए व्यक्तिगत तादात्म्य को कृत्यों के स्वायत्तीकरण के सिद्धान्त के रूप में वर्णित किया जाए तो यह मुश्किल से ही एक सिद्धान्त है[१७] ।" इसके अलावा लॉक का यह मानना कि व्यक्ति पद अशरीरी तथा बुद्धि के अंध कमरे के बुद्धिमान निवासी को सूचित करता है,[१८] न कि दैनिक जीवन में दिखने वाले लोगों को, पूरी तरह त्रुटिपूर्ण है । उनकी यह मान्यता भी समस्या युक्त है कि व्यक्तिगत तादात्म्य का कुछ यथार्थ सारभूत तत्त्व होता है, कि एक ऐसी परिभाषा सम्भव है जो हमें भविष्य की भाषीय अनिश्चितता या अनिर्णय के आरोपों से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बचा सके । इस प्रकार कहा जा सकता है कि लॉक द्वारा दिया गया व्यक्तिगत तादात्म्य की समस्या का समाधान संतोषजनक एवं समस्याओं से मुक्त नहीं हैं ।

अतिथि प्रवक्ता
दर्शनशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ. मोहित टण्डन

टिप्पणियाँ

१. Lock John, Eassy Concerning Human Understanding, (ed. by) Fraser, A.C., Oxford, 1984, ch. XXIII
२. Ibid.
३. Ibid, ch. XXVII
४. Ibid.
५. Ibid, ch. XXVII, 23, 11, 12.
६. Ibid.
७. Ibid, ch. XXVII, 23, 19, 12
८. Ibid, ch. XXVII, 15
९. Mackie, J.L., The Problems from Locke, Claredon Press, Oxford, 1976, p. 176.
१०. Flew, Anthony, *Locke and The Problem of Personal Identity*, Locke and berkeley, ed. by Martin, C.B., & Armstrong, D. M., pp. 155-166.
११. Ibid.
१२. Ibid.
१३. Ibid.
१४. Ibid.
१५. Ibid, ch. XXVII, 26
१६. Ibid, ch. XXVII, 10
१७. Mackie, J.L., Ibid, p. 183
१८. Ibid, XI, 17

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कांट का 'निजरूप वस्तुओं' और परासत्ताओं का सिद्धान्त अर्थात् तर्क बुद्धिवाद के उत्तराधिकारी एवं आलोचक के रूप में कांट

'वस्तुनिजरूप एवं उनका इन्द्रियातीत परम अज्ञेय स्वरूप' का सिद्धान्त कांट के दर्शन की केन्द्रीय सम्प्रत्यय एवं अन्तविर्रोधी अवधारणा है । जैसा कि फ्रेडरिक जैकोबी ने कहा 'वस्तुनिजरूप' कांट की एक ऐसी अवधारणा है, जिसके बिना उसकी दार्शनिक दुनिया में प्रवेश नहीं किया जा सकता किन्तु उसके साथ वहाँ रहा भी नहीं जा सकता । 'वस्तुनिजरूप' अर्थात् संज्ञान से स्वतंत्र वस्तुओं के अस्तित्व की संकल्पना कांट को जहाँ भौतिकवादी दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित करती है वहीं उनका इन्द्रियातीत एवं अज्ञेय स्वरूप उन्हें अधिभूतवादी प्रत्ययवादी श्रेणी में प्रतिस्थापित कर देता है । इस सम्बन्ध में अनिवार्यतः यह प्रश्न उठता है कि, 'क्या कांट 'निजरूपवस्तुओं' को इन्द्रियातीत मानकर उन्हें परासत्ताएँ मानते हैं ?' इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर उन्हें भौतिकवाद से विच्छिन्न अर्थात् निजरूप वस्तुओं की अस्वीकृति की ओर ले जाता है क्योंकि 'निजरूपविश्व' एक ऐसा विश्व है, जो हमारे बिना अस्तित्ववान् है । यदि कांट नकारात्मक उत्तर देते हैं तो प्रश्न उठता है कि तब 'निजरूपवस्तुएँ' परासत्ताओं से कैसे भिन्न हैं ?

कांट अपने दर्शन की मूलदिशादृष्टि में 'निजरूपवस्तुओं' को 'परा-सत्ताओं' के पर्याय के रूप में स्वीकार नहीं करते । उनके अनुसार 'वस्तुनिजरूप' 'शुद्ध बुद्धि' का विचार नहीं है । यह इन्द्रियातीत सौंदर्यशास्त्र अर्थात् इन्द्रिय अनुभूति के सिद्धान्त का मूलाधार है । निजरूपवस्तुएँ हमारी इन्द्रियों को प्रभावित करती हैं । कांट हमेशा इस बात पर सचेतन रूप में जोर देते रहे हैं कि 'निजरूपवस्तुओं' का अस्तित्व परिघटनाओं के जगत् के अस्तित्व का आधार एवं कारण दोनों हैं । कांट के अनुसार, स्वयं यह तथ्य कि 'परिघटनाओं' का संसार निर्विवाद रूप से अस्तित्ववान् है, निजरूप वस्तुओं का अस्तित्व सिद्ध

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करता है । 'परिघटना' शब्द स्वयं किसी दूसरी स्थिति 'अपरिघटनाओं' के केवल इन्द्रियगत अगोचर आधार के रूप में ही कल्पनीय है । परिघटनाएँ हमेशा एक 'वस्तुनिजरूप' की पूर्वकल्पना करती हैं । जो उनके अस्तित्व का संकेत है । इसलिए कांट इस बहस को निरर्थक मानते हैं कि 'परिघटना' उस वस्तु के बिना अस्तित्व रखती है जो प्रकट होती है । कांट का यह निष्कर्ष अपरिहार्य रूप से अनुभव के विषयों के रूप में 'वस्तुओं' तथा 'निजरूप वस्तुओं' के बीच भेद का परिणाम है[१]। दूसरी ओर 'परासत्ताएँ' कांट के दर्शन में इन्द्रिय अनुभूतियों, परिघटनाओं और सामान्यतः संतान की प्रक्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं रखती हैं। 'ईश्वर का अस्तित्व', 'आत्मा की अमरता' एवं 'संकल्प की स्वतंत्रता' ये सभी परासत्ताएँ हैं, जिन्हें कांट 'शुद्धबुद्धि' के प्रत्यय कहते हैं । जिनका किसी भी रूप में 'परिघटनाओं' के जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं है । परासत्ताओं को 'शुद्धबुद्धि' के 'प्रागनुभविक' विचारों के रूप में परिभाषित करते हुए कांट कहते हैं, हमारे पास 'परिघटनाओं' के क्षेत्र से परे समस्यात्मक ढंग से ऐसे सम्भव अनुध्यान के बारे में कोई धारणा बना सकते हैं जिनके द्वारा वस्तुएँ हमें इन्द्रियों के बाहर दी जा सकें। इसलिए 'परासत्ता' की संकल्पना केवल एक सीमा निर्धारक धारणा है, जिनका प्रयोग इन्द्रियों के दावों को सीमित करने के लिए किया जा सकता है और केवल नकारात्मक ढंग से ही प्रयोज्य है ।[२]

कांट की प्रवर्गों (Categories) सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण अवधारणा भी उनकी परासत्ताओं एवं 'वस्तु निजरूप' की अवधारणा के बीच भेद बनाए रखने के प्रयास का संकेत है । इस सम्बन्ध में कांट की मूलदृष्टि को प्रस्तुत करते हुए उनके दर्शन के विशेषज्ञ गोत्तफ्रिद मार्तिन करते हैं - अतीन्द्रिय पर प्रवर्गों की अप्रयोज्यता के बारे में स्थापना कांट के सिद्धान्त का एक मूलतत्त्व है किन्तु वह न केवल 'अस्तित्व और कारणता' के प्रवर्गों अपितु ऐसी दूसरी चीजों को भी 'निजरूप-वस्तुओं' पर लागू करते हैं, जिनका महत्त्व केवल परिघटनाओं के क्षेत्र तक ही सीमित है । किन्तु परासत्ताओं के बारे में लागू नहीं करने के लिए सचेत है और इस तरह 'परासत्ताओं' का 'इन्द्रियगत' तथ्यों से किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को अस्वीकार करते हैं।[३]

'वस्तुनिजरूप' की वस्तुगत यथार्थता को सिद्ध करने के लिए कांट प्रत्ययवादी द्रार्शनिकों के प्रयासों का खण्डन करते हैं। 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' में कांट शुद्ध बुद्धि के प्रागनुभविक विचारों के रूप में परासत्ताओं और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'निजरूपवस्तुओं' के बीच भेद करते हुए कहते हैं - प्रत्ययवाद की अन्य वस्तुएँ, घटनाएँ और स्थितियाँ जिन्हें हमारे विचार में हम अनुध्यान से अनुभूत करते हैं, मात्र चिंतनशील सत्ताओं के अन्दर विद्यमान घटनाएँ हैं । इसके विपरीत, मैं कहता हूँ - हमें वस्तुएँ हमारे बाहर अस्तित्व रखने वाली हमारी इन्द्रियों के विषयों के रूप में दी जाती हैं किन्तु हम इसके बारे में कुछ भी नहीं जानते कि वे वस्तुतः क्या हैं ? हम मात्र उनके बिम्बों को जानते हैं जो वे हमें हमारी इन्द्रियों को प्रभावित करके पैदा करती हैं । अतः मैं स्वभावतः मानता हूँ कि हमारे बाहर ऐसी वस्तुओं का अस्तित्व है, जिनके 'सारतत्त्व के बारे में हम कुछ भी नहीं जानते, किन्तु जिनके बारे में हम उन बिम्बों के जरिए जानते हैं जिन्हें अपनी इन्द्रियों पर उनके प्रभाव के फलस्वरूप प्राप्त करते हैं और जिन्हें नाम भी देते हैं ये नाम उन वस्तुओं की केवल परिघटनाओं को सूचित करते हैं जो हमारे लिए अज्ञात किन्तु वास्तविक हैं ।[४]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कांट 'निजरूप वस्तुओं' का अस्तित्व ऐसी वस्तुओं के रूप में स्वीकार करते हैं जो अपनी 'अज्ञेयता' के बावजूद इन्द्रिय अनुभूतियों के अनुरूप विषय होती हैं । ये विषय 'इन्द्रिय अनुभूतियों' में विद्यमान एवं प्रकट होते हैं किन्तु हम केवल उनके आभास को जानते हैं । इससे यह निगमित होता है कि कांट निजरूप वस्तुओं के अस्तित्व को एक सुस्पष्ट तथ्य के रूप में वस्तुगत यथार्थ मानते हैं, जबकि परासत्ताओं को उसे असम्बद्ध रखते हैं । परासत्ताएँ विशुद्ध रूप में नीतिशास्त्रीय अभिधारणाएँ हैं और नीतिशास्त्र शुभसंकल्प का विषय है । इसलिए कांट द्वारा नीतिशास्त्र में परासत्ताओं की परिभाषा व्यावहारिक बुद्धि के अभ्युपगम के रूप में की गई है, जिनका तथ्यात्मक तथा सैद्धान्तिक रूप से अस्तित्व का दावा निराधार है । यहाँ कांट 'निजरूपवस्तुओं' को 'व्यावहारिक बुद्धि' के विषय अस्वीकार कर परासत्ताओं के पृथक् क्षेत्र को बनाए रखते हैं । नैतिक बुद्धि का निजरूपवस्तुओं से कोई सम्बन्ध नहीं है । 'व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना' में कांट कहते हैं - चेतना केवल वहीं तक नैतिक है, वहाँ तक यह 'निरूपवस्तुओं' से प्रभावित नहीं होती।

कांट के नीतिशास्त्र में 'परासत्ताएँ' अनिवार्यतः शुद्ध व्यावहारिक बुद्धि द्वारा कल्पित कर्तव्य हैं, जिनका 'वास्तविक सत्तामीमांसीय' महत्त्व अस्वीकार्य है । परासत्ताओं का सिद्धान्त कांट के लिए व्यावहारिक जीवन को अनुशासित करने वाला विश्वास है । केवल 'व्यावहारिक बुद्धि' ही 'स्वतंत्र संकल्प' की धारणा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के माध्यम से ईश्वर का अस्तित्व व आत्मा की अमरता के विचारों को वस्तुगत यथार्थता और अधिकार तथा इससे भी अधिक उनकी कल्पना करने के लिए आत्मगत आवश्यकता प्रदान करती है । इससे यह निगमित होता है कि कांट की मूल दार्शनिक प्रस्थापना में वस्तुनिजरूप एवं परासत्ता की संकल्पनाएँ एक नहीं अपितु भिन्न, पृथक् एवं असम्बन्ध हैं ।यद्यपि निजरूपवस्तुओं की व्याख्या ऐसी स्थिति के रूप में की जाती है जो वास्तविक अर्थ में शब्द के सामान्य अर्थ में 'वस्तु' नहीं है क्योंकि वस्तु देश एवं काल की दृष्टि से निश्चित तथा इन्द्रियों द्वारा बोधगम्य होने के कारण एक परिघटना है । वस्तु नहीं होते हुए भी 'वस्तुनिजरूप' अपनी परिधि में सम्पूर्ण यथार्थ को शामिल करती है क्योंकि यह संतान की प्रक्रिया का ध्यान किए बिना अस्तित्व रखती है । इस धारणा का सम्बन्ध केवल अनुभूतियाँ पैदा करनेवाली भिन्न-भिन्न वस्तुओं से नहीं अपितु ऐसे विषयों की असीम बहुलता से है, जो सन्तान पैदा करने वाले विषयी से अनिवार्य रूप से सम्बन्धित न हो । किन्तु परासत्ताएँ नैतिक संकल्पनाएँ होने के कारण परिघटनाओं के आधार नहीं अपितु मनुष्य की व्यावहारिक आवश्यकता से जनित अवधारणाएँ हैं ।

किन्तु कांट का 'निजरूपवस्तुओं' की अज्ञेयता एवं उनकी 'परिघटनाओं' के साथ 'अपृथक् सम्बद्धता' तथा परासत्ताओं का इन दोनों से स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष मनोगत संसार, कांट के दर्शन को अनेक तरह के अन्तर्विरोध से ग्रसित कर देता है । ये अन्तर्विरोध उनकी 'शुद्ध बुद्धि की आलोचना' की मूल प्रस्थापनाएँ एवं उनके निगमित निष्कर्ष तथा 'व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना' के मूल एवं उससे निष्पाहित निष्कर्षो में देखे जा सकते हैं ।

लेनिनने ने कांट के इन अन्तर्विरोधों को बहुत गहराई से विश्लेषित करने का प्रयास किया है । इस प्रयास में वे सर्वप्रथम निजरूप वस्तुओं की परम अज्ञेयता पर प्रश्न करते हैं । उनके अनुसार यदि 'निजरूपवस्तुओं' 'परिघटनाओं' के रूप में प्रकट होती हैं तो वे अज्ञेय कैसी हैं ? मानव का जीवन-व्यवहार एवं उसके संज्ञान का विकास इस सत्य को ठोस रूप में स्थापित करता है कि 'परिघटना' और 'वस्तुनिजरूप' अर्थात् 'आभास' एवं 'सार' के बीच इस तरह का कोई चिरस्थायी भेद नहीं है जैसा कि कांट दर्शाना चाहते हैं । परिघटना तथा 'वस्तु निजरूप' के बीच निश्चित रूप से सिद्धान्ततः कोई सीमारेखा नहीं है, न ही हो सकती है अपितु दोनों के बीच 'द्वन्द्वात्मक संज्ञान की प्रक्रिया' का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्बन्ध पाया जाता है । एक दूसरे के बीच विशिष्ट सीमाओं के बारे में दार्शनिक प्रस्थापनाओं की रचना और वस्तुनिजरूप को परिघटनाओं से परे मानना मानव संज्ञान के सम्पूर्ण ऐतिहासिक विकास को असत्य सिद्ध करने की कुचेष्टा का परिणाम है । इसलिए दर्शन के विकास में कांट के ऐतिहासिक योगदान को रेखांकित करने एवं ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से वस्तु निजरूप एवं परिघटनाओं के बीच विद्यमान द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को जानने के लिए आवश्यक है कि कांट के प्रत्यय को प्रतिलोमित कर यह निष्कर्ष निकाला जाए कि 'जो कुछ भी अज्ञात है वह वस्तुनिजरूप है' ।[५] मानवीय अनुभव इस बात को प्रमाणित करता है कि 'वस्तुनिजरूप' ज्ञेय है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति ने बार-बार 'वस्तुनिजरूप' का परिघटना में सरल और स्पष्ट रूपान्तरण का प्रेक्षण किया है । वस्तुतः यही रूपान्तरण संज्ञान है । पौधों और पशुओं के शरीर में उत्पन्न होने वाले रासायनिक पदार्थ तब तक ऐसे ही 'वस्तुनिजरूप' बने रहे जब तक जैवरसायन ने एक-एक करके उनका उत्पादन प्रारम्भ नहीं कर दिया और तब तक यह 'वस्तुनिजरूप' 'वस्तु हमारे निमित्त' बन गई।

किन्तु स्पष्टतः संज्ञान की प्रक्रिया एवं निजरूपवस्तुओं के 'हमारे निमित्त वस्तुओं' में रूपान्तरण के अन्तर्विरोध तिरोहित नहीं हो गए हैं । ये अन्तर्विरोध संज्ञान के विकास में प्रत्येक ऐतिहासिक अवस्था में पुनरूत्पादित (गुणात्मक तौर से नये रूप में) होते हैं । 'वस्तुनिजरूप' हमारे निमित्त वस्तु से भिन्न है क्योंकि 'हमारे निमित्त वस्तु' 'वस्तुनिजरूप' का मात्र एक अंग व पहलू है । अतः ज्ञात अधिक व्यापक अज्ञात समष्टि का एक अंग है तथा कुछ हद तक उसपर निर्भर करता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दार्शनिक डीयेट्जगेन अपनी कृति 'मानव मस्तिष्क के काम का सार' में लिखते हैं - जगत् को 'वस्तुनिजरूप' का आभासित रूप लिया गया तो हम निःसंदेह यह देख लेंगे कि जगत् निजरूप तथा हमारे सामने प्रतीयमान जगत् परिघटना एक दूसरे से उसी प्रकार भिन्न है, जिस तरह से पूर्ण अपने हिस्सों से भिन्न होता है । परिघटना अपने को पैदा करने वाली वस्तु से उतनी ही भिन्न होती है जितना कि दस मील लम्बी सड़क का अंश सम्पूर्ण सडक से । यहाँ कोई भी मूल अन्तर, कोई अनुभवातीत, असंगति नहीं है किन्तु निःसंदेह अन्तर है अर्थात् इन्द्रिय ज्ञानों की सीमाओं के पार हमसे बहिर्गत वस्तुओं के अस्तित्व की ओर संक्रमण तो है ही । अतः कांट के 'वस्तुनिजरूप' के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सिद्धान्त में विद्यमान अन्तर्विरोध का स्रोत भौतिकवाद को प्रत्ययवादी के साथ समन्वित करने के प्रयास में निहित है ।[६] वस्तुतः आत्मगत और वस्तुगत, आत्मिक और भौतिक, परिघटना और वस्तुनिजरूप के बीच द्वैतवादी दृष्टि ही कांट के अज्ञेयवाद का प्रस्थान बिन्दु है ।

इस तरह 'व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना' में प्रतिपादित परासत्ताओं का सिद्धान्त और उनका अनुभव से निरपेक्ष 'शुद्ध प्रत्यय' स्वरूप कांट को उस निष्कर्ष पर पहुँचा देता है जिसको आधार बनाकर उन्होंने तर्कबुद्धिवादियों द्वारा प्रतिपाहित स्वःसिद्ध, अन्तःप्रज्ञावादी एवं विशुद्ध प्रागनुभविक दार्शनिक सत्यों को स्थापित करने की दृष्टि का खण्डन किया था । 'शुद्धबुद्धि की आलोचना' में तर्कबुद्धिवादी संकल्पना को अस्वीकार करते हुए कांट ने कहा - बुद्धि द्वारा अनुभव से परे मान का दावा मनुष्य की मूल सैद्धान्तिक गलतियों मे से एक है। अनुभव नहीं अपितु विवेक एवं बुद्धि ही गलती के दोषी हैं । इसलिए नहीं कि वे अनुभव के आगे निष्कर्ष निकालते हैं अपितु इसलिए कि वे अनुभव से स्वतन्त्र निष्कर्ष निकालने की कोशिश करते हैं और इस तरह अपने को एकमात्र आधार से वंचित कर लेते हैं ।[७] किन्तु कांट परासत्ताओं की निजरूपवस्तुओं और परासत्ताओं के बीच भेद प्रधानतः 'शुद्धबुद्धि की आलोचना' के लिए लाक्षणिक हैं न कि 'व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना' में प्रतिपादित कांट के नैतिक सिद्धान्त के लिए, जो कुछ हद तक प्रथम का खण्डन करते हैं । 'वस्तुनिजरूप' की संकल्पना की सहायता से कांट अपने दर्शन में आत्मगतवादी झुकावों को सीमित करने की कोशिश करते हैं । इसके साथ ही, आत्मगतवादी ज्ञानमीमांसा को आधार बनाकर वस्तुगत यथार्थता और इसकी असीमित ज्ञेयता की भौतिकवादी मान्यता के काल्पनिक जड़ सूत्रवाद पर काबू पाने की कोशिश करते हैं । साथ ही अधिभूतवादी दर्शन की उस मूल प्रस्थापना को बनाए रखने का सचेत प्रयास भी, जिसके अनुसार प्रत्ययवादी दर्शन मानव बुद्धि की संस्कृति का शिखर है । जिसके चलते दर्शन बुद्धि का क्षेत्र एवं मनुष्य एक बुद्धिसंगत अधिभूतवादी सत्ता है, जो जानवर से न केवल सोचने की दृष्टि से भिन्न है अपितु अधिभूतवादी ढंग से सोचने की क्षमता से भी भिन्न है । वस्तुतः भौतिकवाद एवं प्रत्ययवाद में समन्वयवादी प्रयास उसके द्वैतवादी दर्शन की स्वाभाविक परिणति है, जिसे कांट पाट नहीं सके । ''मुझे ज्ञान को सीमित करना था ताकि विश्वास के लिए जगह बनाई जा सके''[८] ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अधिभूतवादी दृष्टिकोण के प्रति अनुराग के कारण ही कांट उन अन्तर्विरोध से और अधिक ग्रस्त होते चले गए जिसके निदान का प्रयास ही उनके दर्शन का प्रस्थान बिन्दु था । साथ ही मानव समाज को उनके उस वैज्ञानिक सिद्धान्त की खोज से प्राप्त होनेवाले लाभों से वंचित कर देता है, जिसकी स्थापना कांट ने अपनी 'शुद्धबुद्धि की आलोचना' लिखने से पूर्व की थी । कांट ने 'ब्रह्माण्डोत्पत्ति' सिद्धान्त की रचना की थी जिसमें न केवल खगोलविज्ञान द्वारा स्थापित तथ्यों को और अधिक स्पष्ट एवं प्रमाणित किया अपितु सौर-प्रणाली की सुव्यस्थित संरचना की उत्पत्ति तथा विकास की एक वैज्ञानिक व्याख्या पेश की । उनकी मूल दिशा दृष्टि में ऐसी असंगतताओं की अनुपस्थिति उस समस्या से पलायन होती, जिसे कांट ने पेश करके तथा उसकी सभी जटिलताओं को हल करने की कोशिश की । 'वस्तुनिजरूप' सिद्धान्त के विश्लेषण में सामान्यतः जिस असंगतता पर जोर दिया जाता है, वह समस्या के वास्तविक समाधान के लिए उद्देश्यपूर्ण खोज का आवश्यक विपरीत पहलू है । यही शुद्धबुद्धि की सीमाओं में धार्मिक कांट के दार्शनिक विकास में योगदान को रेखांकित करती है, बावजूद इसके कि कांट उभरती पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के युग की बुर्जुआ आत्म-चेतना के उत्तराधिकारी थे ।

डॉ. सुधा चौधरी

व्याख्याता, दर्शनशास्त्र

राजकीय मीरा कन्या महाविद्यालय,

उदयपुर (राज.)

टिप्पणियाँ

१. थेओदोर ओइज्रेमनि, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और दर्शन का इतिहास, पृ. ३००

२. वहीं, पृ. ३०५

३. Kant, I., Briegwechsel, Verlay Von Felix Meiner, Hanburg, 1972

४. Kautsky K., Ein Brief Uber Marx and Mach

५. कांट, शुद्धबुद्धि की आलोचना, पृ. २६० एवं व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना, पृ. ३०७

६. मार्क्स, एंगेल्स एवं लेनिन, पृ. २०१

७. डीयेटजगेन, मानव मस्तिष्क का सार, पृ. ७६

८. वहीं, पृ. १००

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सार्त्र के अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद में मानव-विचार – एक दार्शनिक गवेषणा

सार्त्र और मार्क्स दोनों का मानव-विचार महत्त्वपूर्ण रूप से उनके सम्पूर्ण दर्शन को प्रभावित करता है । सार्त्र पर मार्क्स का प्रभाव सर्वविदित है पर इसके आधार पर यह मान लेना गलत होगा कि सार्त्र का मानव-विचार पूर्णतः मार्क्स के प्रभावों से युक्त है । मानव-विचार को अपने दर्शन के केन्द्रीय तत्त्व के रूप में सार्त्र और मार्क्स दोनों ने चर्चित किया है पर इनके वैचारिक परिवेश और पृष्ठभूमि भिन्न-भिन्न रहें हैं और इसी कारण मानव विचार के निरूपण में एक-दूसरे से प्रभावित होते हुए भी किसी-किसी बिन्दु पर इनके बीच पारस्परिक मतभेद भी देखे जा सकते हैं । यह कहा जा सकता है कि मानव-विचार को लेकर इनके बीच समानताएँ अधिक हैं और भिन्नताएँ कम, पर जो भिन्नताएँ हैं वही अति महत्त्वपूर्ण है और मेरा ऐसा मानना है कि सार्त्र जिस बिन्दु पर मानव-विचार को लेकर मार्क्स से असहमत हैं, वहीं उनकी दार्शनिक भिन्नता को अधिमान प्रदान करता है ।

सार्त्र ने अपने दार्शनिक चिन्तन में विश्वबोध या व्याख्या या तत्त्वमीमांसा जैसे दुर्बोध समस्याओं के समाहार के प्रति जिज्ञासा प्रकट नहीं की है । सार्त्र मानव-बोध और इसकी व्याख्या के प्रति ज्यादा झुकाव रखते हैं । सार्त्र की यह चेष्टा है कि विश्व में उपस्थित समस्याओं का सफल रूप से सामुख्य किया जाए और मानवीय जीवन को इस विश्व में मर्यादा प्रदान की जाए । अस्तित्ववाद से सार्त्र का तात्पर्य उस सिद्धान्त से है जो मानव-जीवन को संभव बनाता है और क्रिया में मानव स्थिति और आत्मनिष्ठता को आपादित करता है । इस कथन से स्पष्ट है कि मानव अपने जीवन के प्रतिरूप का चयन स्वयं करता है[१]। सार्त्र व्यक्ति की स्वतंत्रता पर विशेष बल देते हैं । स्वतंत्रता के प्रति इनके झुकाव का मुख्य कारण यह है कि स्वतंत्रता ही मानव को उसकी खोई हुई मर्यादा और गौरव को वापस दे सकती है और उसके आत्म-स्वाभिमान को पुनः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्थापित कर सकती है। स्वतंत्रता मानव के लिए कोई सुख का संदेश लेकर नहीं आई । यह आज मानव को उसके दायित्व का बोध कराती है । यदि स्वतंत्रता के कारण मानव अपने-आपको असुविधाजनक स्थिति में पाता है तो इसके लिए मानव विशेष उत्तरदायी है। पर सार्त्र का मानना है कि इस प्रकार की परित्याग की भावना से स्वतंत्रता ने मानव पर जो गहन उत्तरदायित्व आरोपित कर दिया है उससे उत्पन्न कठिनाइयों का समाधान नहीं हो सकता । स्वतंत्रता ऐसी कोई वस्तु नहीं जो समाज से कुछ अपेक्षा रखती हो । यह मानव-प्रकृति में विद्यमान एक गुण है जो उसे प्राणि-जीवन से अलग करता है । सार्त्र के ही शब्दों में 'मानव स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है, फिर भी वह स्वतंत्र है । जिस क्षण में मानव को इस विश्व में फेंक दिया गया उसी क्षण से वह जो भी करता है उसके लिए वह उत्तरदायी होता है । उसे अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत रहना पड़ता है, यह इस बात का परिचायक है कि अन्यों की स्वतंत्रता के लिए भी उसे संघर्ष करना होगा । व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता अन्यों की स्वतंत्रता पर निर्भर है ।' यही सार्त्र को अन्तर्ग्रसन और प्रतिबद्धता जैसे लोकप्रिय सिद्धान्तों को और अग्रसर करता है[२] । अन्तर्ग्रसन का संप्रत्यय अस्तित्ववादी विचार से संगति नहीं रखता पर द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि में फ्रांस ने जिस त्रासदी में अपने-आपको पाया और जिस प्रकार नाजियों ने फ्रांस का दमन किया, उस परिप्रेक्ष्य में अन्तर्ग्रसन के संप्रत्यय का आरोपण अस्तित्ववाद पर सार्त्र ने किया । सार्त्र १९३९ से फ्रांसीसी भूमिगत सेना के सक्रिय सदस्य रहे और १९४१ में नाजियों से मुक्ति के बाद सार्त्र फ्रांसीसी प्रतिरोध आन्दोलन के नायक बन कर उभरे । सार्त्र अपने-आप से पूछते हैं, उन्होंने हमें प्रताडित किया तो क्या हम मौन धारण किए रहते ? इसका उत्तर फ्रांस की जनता और अपने अनुयायियों के प्रति एकात्मता ही होगा । फ्रांस की जनता को नाजी जर्मनी के अत्याचार के खिलाफ एकजुट रहना होगा । स्वतंत्रता और एकात्मता, समानता, विशेषाधिकारहीनता और मजदूर वर्ग के रूप में प्रत्येक मानव का अवस्तरीकरण को आपादित करता है । इस प्रकार सार्त्र कर्तव्य जैसे जनसमस्याओं और साम्यवाद के प्रति प्रतिबद्धता के आलोक में अन्तर्ग्रसन की चर्चा करते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अस्तित्ववाद जिस वैचारिक परिवेश में उभरकर सामने आता है, उसमें हीगेल के प्रति किर्केगार्ड की प्रतिक्रिया का मुख्य योगदान रहा है। समाज में मानव आत्मानुभूति की समस्या से जिस तरह जूझता है, वही हीगेल के लिए मुख्य चर्चा का विषय है । हीगेल यह मानते हैं कि आत्म-अनुभूति की प्राप्ति समुदायों के नैतिक सम्प्रदायों के आन्तरीकरण द्वारा सम्भव है । इस प्रकार स्पष्ट है कि आत्म-अनुभूति की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को अपनी पहचान को समुदाय में मिला देना होगा, जिसे हीगेल ने आन्तरिकता के रूप में परिभाषित किया हैं । किर्केगार्ड मानव की आत्मनिष्ठता की उपेक्षा के लिए हीगेल की तीव्र आलोचना करते हैं। किर्केगार्ड का मानना है कि अस्तित्वपूर्ण मानव विचारों की व्यवस्था द्वारा संग्रहित नहीं किया जा सकता । इस तथ्य को तात्त्विक परिकल्पना द्वारा दूर नहीं किया जा सकता कि मनुष्य को दुःख झेलना पड़ता है । सार्त्र कहते हैं "आत्मनिष्ठ जीवन जिस रूप में यह जीवन्त है, कभी भी ज्ञान का विषय नहीं बन सकता ।"[३] सार्त्र का मानना है कि हीगेल के विरुद्ध किर्केगार्ड की प्रतिक्रिया एक ईसाई स्वच्छन्दावादी की आस्था के यौक्तिक मानवीकरण के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है । सार्त्र के अनुसार हीगेल और किर्केगार्ड दोनों ही अपने जगह सही हैं । हीगेल अपने संप्रत्यययों के माध्यम से मूर्त वास्तविक की प्राप्ति की ओर बढना चाहते हैं क्योंकि उनके अनुसार विचार सदैव संवर्धन के रूप में प्रस्तुत होता है । किर्केगार्ड भी अपने-आप में सही हैं क्योंकि शोक, आवश्यकता, आवेश इत्यादि एक कठोर वास्तविकता है जिसे ज्ञान के द्वारा न तो दमित किया जा सकता है और न ही परिवर्तित किया जा सकता है । पर सार्त्र की दृष्टि में हीगेल की अपेक्षा किर्केगार्ड अधिक सही है क्योंकि इन्होंने विचार की अपेक्षा वास्तविकता पर अधिक बल दिया है ।

अस्तित्ववाद के तरह ही हीगेल की आलोचना मार्क्स भी करते हैं । मार्क्स द्वारा हीगेल की आलोचना का परिप्रेक्ष्य अवश्य थोड़ा भिन्न है । मार्क्स का मानना है कि हीगेल ने विश्व में मानव की बाह्यनिष्ठता को सरलता से जड़वस्त्वीकरण मानकर भ्रम उत्पन्न किया है क्योंकि उनका असम्बन्ध संप्रत्यय बाह्यनिष्ठता के संप्रत्यय को मनुष्य के विरुद्ध उपस्थित करता है । मार्क्स के अनुसार असम्बन्ध उत्पादक शक्ति और उत्पादक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के बीच परस्पर संघर्ष का परिणाम है और इसलिए यह एक ऐतिहासिक वास्तविकता है । यदि मनुष्य अपने-आप को स्वतंत्र करना चाहता है और यदि मनुष्य का कार्य शुद्ध वस्तु के रूप में उपस्थित होना चाहता है तो सार्त्र ने मार्क्स की तरह कहा है, "यह मात्र पर्याप्त नहीं कि चेतना स्वयं सोचती है, बल्कि इसके लिए भौतिक कार्य और आत्मप्रेरित क्रांतिकारी व्यवहार अवश्यंभावी है ।"[४] अतः यह कहा जा सकता कि किर्केगार्ड और हीगेल की तुलना में मार्क्स कहीं अधिक सही है । क्योंकि किर्केगार्ड के समान मानव अस्तित्व की विशिष्टता को इन्होंने स्वीकार किया है । हीगेल के समान मूल मानव को अपनी वस्तुनिष्ठ वास्तविकता में समाहित कर लेते हैं ।

अब प्रश्न यह उठता है कि अस्तित्ववाद का योगदान इस बिन्दु पर किस रूप में है ? अस्तित्ववाद का उद्भव वैयक्तिक समाज की अवस्था में हुआ पर उसी समय मार्क्सवाद भी उभरकर सामने आ चुका था और ऐसा माना जाता है कि मार्क्सवाद के उद्भव के कारण ही अस्तित्ववाद के विकास को प्रारंभ में ही बाधा पहुँची । इसके उपरान्त मार्क्सवाद एक प्रमुख विचारधारा के रूप में चर्चित हुआ और अस्तित्ववाद मार्क्सवादी विचार के प्रभावशाली उपस्थिति के आगे अपने अस्तित्व को कायम नहीं रख पाया । पर द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारंभ होते-होते अस्तित्ववाद एक बार पुनः हमारे सामने उपस्थित होता है । इस बार अस्तित्ववाद की उपस्थिति को मार्क्सवाद रोक नहीं पाया और कालान्तर में हम पाते हैं कि मार्क्सवाद की अपेक्षा अस्तित्ववाद ही दर्शन की प्रधान धारा बनता गया । इसका क्या कारण रहा है ? सार्त्र जो १९५६ तक स्वयं एक उत्साही साम्यवादी रहे हैं, इसके कारण के रूप में मानव-विचार को लेकर दोनों सम्प्रदायों में जो अन्तर रहा है, उसी को प्रमुख मानते हैं। मार्क्सवाद मानता है कि 'मनुष्य अपने वातावरण से निर्मित है', जबकि अस्तित्ववाद यह मानता है कि 'मनुष्य स्वयं अपने-आपको बनाता है' । सत्य तो यह है कि मार्क्सवाद अस्तित्ववादियों द्वारा उपस्थित मानव संबंधी विचार की शुद्धता को नहीं संभाल पाता और इसी कारण अस्तित्ववाद पुनः एक बार फिर से नयी उर्जा और संकल्पशक्ति के साथ उपस्थित हुआ। सार्त्र का ऐसा मानना है कि मानव-विचार को लेकर मार्क्सवाद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और अस्तित्ववाद में जो अन्तर नजर आता है उसके जड़ में मानव सम्बन्धी मार्क्सवादी विचार की उपस्थिति नहीं । वस्तुस्थिति तो यह है कि मार्क्सवाद अपने विकास बिन्दु के बाद अपने विचार को आगे नहीं बढा पाया । हम यह भी कह सकते हैं कि इस बिन्दु पर आने के बाद मार्क्सवादी विचारों का विकास स्थिर हो जाता है । इसके कारण के रूप में सार्त्र रूस में सफल साम्यवादी क्रांति और इसके उपरान्त रूस द्वारा अपने आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं से रक्षा हेतु प्रयासों की चर्चा करते है । जिस क्षण से रूस औद्योगिकीकरण की ओर बढने के अकेले ही प्रयासों में लीन हो गया मार्क्सवाद इस नये संघर्ष के भार को सह नहीं पाया और सार्त्र मार्क्सवाद के इतिहास में इस बिन्दु के प्रखर आलोचक रहे हैं । मार्क्सवाद, अपने-आपको अब स्थिर, अवरूद्ध, निश्चल दर्शन के रूप प्रस्तुत करता है और सार्त्र इसका विरोध करते हैं । सार्त्र मार्क्सवाद के मूलभूत सिद्धान्त के विरोधी कभी नहीं रहे और अभी भी नहीं हैं । इसका प्रमाण यह है कि अपने सैद्धान्तिक मतभेद के बावजूद भी सार्त्र फ्रांस के साम्यवादी दल के सक्रिय सदस्य रहे और १९५६ के हंगेरी में क्रांति के दमन तक वे साम्यवादी दल से अपनेआपको जोड़ रहे । इन सारे वैचारिक उथल-पुथल के बीच सार्त्र मार्क्सवाद के प्रति अपनी निष्ठा को बनाए रखते हैं, क्योंकि इनका मानना है कि जितनी भी समयुगीन समस्याएँ हैं, उनका उत्तर मार्क्सवाद ही है । मार्क्सवाद अभी समाप्त नहीं हुआ है, यह अपनी युवा अवस्था में है, जो करीब-करीब इसके शिशुकाल के समान है और इसके विकास की क्रिया का आरंभ अभी नहीं हो पाया है । अतः मार्क्सवाद ही हमारे युग का दर्शन है । हम मार्क्सवाद से परे जा नहीं सकते क्योंकि जिन परिस्थितियों ने इसे उत्पन्न किया है उससे परे हम अभी भी नहीं जा पाए हैं । सार्त्र यह कभी नहीं चाहते कि मार्क्सवाद का आधार अस्तित्ववाद हो । एक व्यक्तिवादी और मानवतावादी होने के कारण सार्त्र मार्क्सवाद विचारों से सामजंस्य स्थापना कठिन मानते हैं और इस कठिनाई का अंत तभी हो सकता है जब मार्क्सवाद मानव के पूर्ण आयाम पर विचार करने की ओर अपनी तत्परता जाहिर करे । अस्तित्ववाद का मानवीय ज्ञान के प्रति मानवशास्त्रीय उपागम रहा है और जब मार्क्सवाद अपने आधार के रूप में अस्तित्ववाद को स्वीकार कर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लेता हो तो कोई अन्य तर्क शेष नहीं रह जायेगा। अस्तित्ववाद का उद्‌विकास ज्ञान की ऐतिहासिक सभ्यता के बाहर जो हमें देखने को मिलता है उसका कारण यह है कि मार्क्सवादी ज्ञान-व्यवस्था से मानव को बाहर रखा गया है । सार्त्र कहते हैं, "मार्क्सवाद का एक अमानवीय नृविज्ञान के रूप में पतन हो जाएगा यदि उसने अपने आधार के रूप में मानव को अपने में पुनः एकीकृत नहीं किया ।"[५] अस्तित्ववाद मूलतः आधुनिक दर्शन के संदर्भ निर्देश में मानव को प्रस्तुत करने की ओर एक प्रयास है । अस्तित्ववाद मार्क्सवाद से कुछ भिन्न नहीं । जब तक मार्क्सवाद मानव सम्बन्धी अपने विचारों में उपयुक्त परिवर्तन नहीं कर लेता, तभी तक एक स्वतंत्र विद्या के रूप में अस्तित्ववाद अपनी उपस्थिति रखेगा ।

उपर्युक्त विमर्श से स्पष्ट है कि सार्त्र का अस्तित्ववाद की अपेक्षा मार्क्सवाद की ओर अधिक झुकाव है । यही कारण है कि हर विपरित परिस्थितियों में भी मार्क्सवाद के प्रति सार्त्र के झुकाव पर यदि थोड़ा विचार करे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि में फ्रान्स को जिस पीड़ा और त्रासदी को झेलना पड़ा, सार्त्र उसके मात्र प्रत्यक्षदर्शी नहीं बल्कि फ्रांसीसी भूमिगत आन्दोलन के एक सक्रिय सदस्य भी रहे । उनके मन में फ्रांस के शत्रु के प्रति जो विरोध और विद्रोह की भावना प्रकट होने के लिए व्याकुल रही, उसकी सबल अभिव्यक्ति साम्यवाद के रूप में उन्हें नजर आई, जिसके प्रतिनिधि मार्क्स और उनका मार्क्सवादी चिन्तन है । मार्क्सवाद शोषण, दमन और उत्पीड़न के प्रति प्रभावशाली रूप में अपना विरोध व्यक्त करता है और यह विरोध धीरे-धीरे विद्रोह का रूप ले लेता है । नाजी के प्रति सार्त्र के विद्रोह को एक सैद्धान्तिक रूप प्रदान किया है । मानव-विचार को लेकर अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद में जो विभाजन देखने को मिलता है उसे कम करने की सार्त्र प्रबल इच्छा रखते हैं ।इसका परिणाम यह हुआ कि सार्त्र मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद दोनों का समर्थन करते नजर आते हैं और नवीन अनुभवों के संदर्भ में दोनों के परस्पर विरोधी, विचारधाराओं में संशोधन करके अपने ही तरीके से उनका सामंजस्य करना चाहते हैं जो एक आलोचक को यह कहने को बाध्य कर देता है कि सार्त्र एक विचित्र समाजवादी हैं जो शायद ही कभी हुआ हो[६]। यदि आज के संदर्भ में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपर्युक्त चर्चाओं का मूल्यांकन करें तो यह स्पष्ट है कि समयुगीन परिप्रेक्ष्य में अस्तित्ववाद ही वह दार्शनिक चिन्तन-दिशा है, जिसने हम सभी को आकर्षित कर रखा है । सार्त्र का यह कथन बिल्कुल सही है कि 'मानव स्वयं अपना निर्माता है । मानव को अपने हित-अहित का ज्ञान है और इसलिए उसे अपने नियमित चयन की स्वतंत्रता मिलनी ही चाहिए । कुछ परिस्थितियाँ ऐसी हो सकती हैं जहाँ मानव अपने-आपको किंकर्तव्यविमूढ स्थिति में पाता है और वह निर्णय-अनिर्णय के द्वन्द्व में फँसकर गलत चयन कर बैठता है । व्यक्ति अपने गलत चयन के लिए अन्य किसी को उत्तरदायी नहीं मान सकता । शायद यही कारण है कि सार्त्र मार्क्सवाद से बार-बार अपेक्षा रखते हैं कि अपने मानव-विचार में परिवर्तन करे पर एक बात मैं नहीं समझ पाया कि सार्त्र खुलकर ये क्यों नहीं कहते कि मानव विचार के प्रसंग में मार्क्सवाद को अस्तित्ववादियों द्वारा अनुदेशित मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। सार्त्र यह संदेश देते हैं कि मार्क्सवाद जिस क्षण अपने मानव-विचार में उपर्युक्त परिवर्तन कर लेगा, अस्तित्ववाद की उपस्थिति के लिए कोई तर्क शेष नहीं रह जाएगा । सार्त्र जैसे प्रबुद्ध अस्तित्ववादी से इस प्रकार का मत-परिवर्तन और वह भी एक मृतप्राय सिद्धान्त के लिए सचमुच मेरे लिए विस्मयकारी है । सार्त्र द्वारा मार्क्सवाद की प्रश्नरहित स्वीकृति आश्चर्य का विषय नहीं बल्कि मार्क्सवाद की अपेक्षा अस्तित्ववाद का अवमूल्यांकन और वह भी सार्त्र द्वारा, एक ऐसा रहस्य है जिसका उद्भेदन, एक अनिवार्यता बनता जा रहा है । मार्क्सवाद अपनी अंतिम श्वासें ले चुका है और इसे पुनर्जीवित करने का कोई प्रयास व्यर्थ ही होगा । सैद्धान्तिक रूप में देखें तो आज वर्गहीन समाज की कल्पना, जो मार्क्सवाद की रीढ है, अपनी अर्थबला खो चुका है । आज का समाज वर्गों में विभक्त है और प्रत्येक सामाजिक वर्ग अपनी अस्मिता बचाए रखने की ओर कटिबद्ध है । अतः हमें यह मानना पड़ता है कि आज का समाज वर्गहीन समाज नहीं बल्कि वर्गयुक्त समाज है । पुनश्च समाज में आज श्रमिक और पूँजीपति वर्ग के अतिरिक्त प्रभावशाली मध्यमवर्ग भी है, जिसने अपनी उपस्थिति से मार्क्सवादी सामाजिक संरचना को ध्वस्त किया है । मार्क्सवादी चिन्तन में मध्यम वर्ग के लिए कोई स्थान नहीं । आज सम्पन्न अधिक सम्पन्नता की ओर उन्मुख है और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निर्धन और निर्धनता की ओर अग्रसर है । इन दोनों के बीच आशाओं और निराशाओं के बीच दोलक से समान मध्यम वर्ग गतिमान् है । मध्यम वर्ग निर्धनता से निकल चुका है और सम्पन्नता की ओर अभी पहुँचा नहीं है। वह सम्पन्नता की ओर अग्रसर होने की तीव्र इच्छा रखता और इस लक्ष्य प्राप्ति के क्रम में उसे आशाओं और निराशाओं से संघर्षरत रहना पड़ता है । एक क्षण की आशा दूसरे क्षण की निराशा में परिवर्तित हो जाती है । मध्यम वर्ग अपने-आपको एक निराशा, संत्रास, भय और निःसहायता की स्थिति में जाता है । सार्त्र अपने दर्शन में जिस निराशा, कुंठा, संत्रास और चिन्ता की बात करते हैं, वह आधुनिक समाज में मध्यम वर्ग के मनोभावों की सबल अभिव्यंजना है । आज मानव ही मानव का हन्ता बनता जा रहा है । मानव का मानव पर से विश्वास उठ चुका है । आज हम जिस युग में रहे हैं युद्ध की विभीषिका से पीड़ित है । हर क्षण युद्ध का भय हमें आतंकित किए रहता है । हम मानवता के प्रति अपने विश्वास को खोते जा रहे हैं और उसका स्थान अतिरंजित राष्ट्रवाद और स्वार्थवाद ले चुका है। यदि थोड़ा रुककर हम सोचें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्तित्ववाद का उद्भव द्वितीय विश्व युद्ध के समय कुछ इसी प्रकार की परिस्थितियों में हुआ था । अतः कोई दार्शनिक चिन्तन जो पुनः हमें एक बार आकर्षित करने की क्षमता रहता है, वह अस्तित्ववाद है न कि मार्क्सवाद !

सार्त्र ने मार्क्सवाद से मानव-विचार में संशोधन की अपेक्षा की थी और यह अपेक्षा आज तक पूर्ण नहीं हो पाई । मार्क्सवाद अपने मानव-विचार में परिवर्तन के इच्छुक नहीं और इसलिए अस्तित्ववाद की अनुपस्थिति का प्रश्न जिसे सार्त्र उपस्थित करते है, वह व्यर्थ ही है। यदि सार्त्रवादी पद में कहना हो तो हम कह सकते हैं कि एक भविष्यगत दार्शनिक विकल्प के रूप में मार्क्सवाद का चयन, सार्त्र द्वारा एक गलत चयन की शुरुआत है । प्रश्न अच्छे और बुरे चयन का नहीं बल्कि उपयुक्त और अनुपयुक्त चयन का है । आश्चर्यजनक रूप से सार्त्र अनुपयुक्त चयन कर बैठते हैं और यही उनके मार्क्सवाद के प्रति अंधविश्वास का कारण है। युग परिवर्तन के साथ हमारी मान्यताएँ आर परंपराएँ भी बदलती हैं । आज के प्रसंग में हम मानव को पर्यावरण से निर्मित मानने को शायद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तैयार नहीं । मानव ही अपने प्रयासों से अच्छे और बुरे पर्यावरण का निर्माण करता है । अतः मार्क्सवादी मानव विचार अप्रासंगिक हो गया है । मानव विचार को लेकर एक उपयुक्त दार्शनिक प्रणाली के रूप में मेरा चयन अस्तित्ववाद है न कि मार्क्सवाद।

डॉ. विजय कुमार सिन्हा

उपाचार्य,
दर्शन विभाग,
मगध विश्वविद्यालय, बोध गया

टिप्पणियाँ

१. सं. मार्टिन व्हाइट, द एज ऑफ एनेलेसिस, न्यूयॉर्क, १९५५, पृ. १२२.
२. वहीं, पृ. १२८.
३. जेम्स ए. गाउल्ड एण्ड व्हीन्सेन्ट थर्सबाई, कन्टेमपोररी पोलिटिकल थ्योरी, में सार्त्र का लेख, मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद, रिनहार्ट एकड वीन्सटन आई. एन. सी., १९६९, पृ.२४६
४. वहीं, पृ. १३७
५. वहीं, पृ. २४२
६. एडवर्ड मैकगील वर्न्स, आयडियाज् इन कन्फिक्ट, लंडन, १९६३, पृ. २९८

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सर्ल के संदर्भ में चेतना तथा उसके ज्ञान की असंभाव्यता के दृष्टिकोण का दार्शनिक विवेचन

चेतना का प्रत्यय संभवतः दर्शन जगत् का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और चुनौतीपूर्ण प्रत्यय रहा है । महत्त्वपूर्ण इसलिए क्योंकि इसका सीधा संबंध मनुष्य के अस्तित्व और उसकी पहचान से है तथा चुनौतीपूर्ण इसलिए क्योंकि वैदिक युग से लेकर वर्तमान वैज्ञानिक युग तक चेतना के संबंध में अनेक प्रकार से विद्वानों ने अपने विचार रखे किन्तु कोई भी चेतना को इस रूप में न समझ सका जिसकी अवधारणा को सर्वमान्य बनाया जा सके । चेतना के संबंध में हमारी जिज्ञासा बौद्धिक धरातल पर अनेक प्रश्न उत्पन्न करती है । यथा, चेतना क्या है ? क्या चेतना निर्मित होती है अथवा यह एक जैविकीय विकास है ? क्या चेतना मनस् से संबंधित है ? यदि हाँ, तो किस प्रकार ? क्या भौतिक वस्तुएँ वास्तव में अचेतन हैं ? इत्यादि ।

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य 'चेतना' से जुड़ इन प्रश्नों को आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक जॉन आर. सर्ल के दृष्टिकोण से समझना है ।[१] यह स्वयं में अत्यंत रुचिकर है कि सर्ल न तो चेतना को मानसिक कहते हैं न ही उसे भौतिक स्तर तक (भौतिकवादी सिद्धान्त के अनुसार[२]) रूपांतरित करने का प्रयास करते हैं । वे चेतना के विविध आयामों की चर्चा करते हैं; उसकी विशेषताओं का विवेचन करते हैं किन्तु अंततः स्वीकार करते हैं कि अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण 'चेतना' का ज्ञान, सामान्य अर्थ में असंभव है। अर्थात् हम चेतना को उसी प्रकार नहीं जान सकते जिस प्रकार संसार की अन्य विषय-वस्तुओं को जानते हैं ।[३]

सर्ल चेतना की किन विशेषताओं की बात करते हैं और क्यों इन विशेषताओं के विवेचन की परिणति 'चेतना' के ज्ञान को असंभव बना देती है इसी की व्याख्या प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है ।

सर्ल अपनी सुविदित रचना 'द रिडिस्कव्हरी ऑफ द माइंड' में स्पष्ट

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रूप में स्वीकार करते हैं कि चेतना की व्याख्या के बिना कोई भी 'मानस दर्शन' अपर्याप्त ही नहीं बल्कि अपूर्ण है । 'मनस्' के संदर्भ में परंपरागत रूप से चली आ रही भौतिकवादी तथा द्वैतवादी दोनों विचारधाराएँ सर्ल को मान्य नहीं हैं । उनके अनुसार इस बात को मानने का हमारे पास कोई तार्किक आधार नहीं है कि संसार की समस्त वस्तुओं को 'मानसिक' और 'भौतिक' इन दो श्रेणियों में ही बाँटा जा सकता है । वस्तुतः यही विभाजन भौतिकवादी और द्वैतवादी विचारधाराओं का आहार तैयार करता है । सर्ल के अनुसार चेतना भौतिक स्नायु-तंत्रिकाओं की क्रिया से उद्भूत एक गुण है किन्तु स्वयं भौतिक नहीं है । यह मानसिक भी नहीं है, वस्तुतः चेतना को किसी श्रेणी में रखकर देखने का हमारा प्रयास ही त्रुटिपूर्ण है । चेतना के संबंध में यह प्रश्न कि उसे किस श्रेणी में रखें, व्यवहारवाद, क्रियावाद, कृत्रिम मनस् आदि रूपों में फलित होता है, जो कि अनुचित है ।

सर्ल चेतना को भौतिक स्नायु-तंत्रिकाओं से उत्पन्न उसी प्रकार एक उच्चतर गुण मानते हैं जिस प्रकार 'ठोसपन', तरल की अपेक्षा H_2O का एक उच्चतर गुण है अथवा तरल, गैसीय रूप की अपेक्षा H_2O का एक उच्चतर गुण है । इसके साथ ही सर्ल चेतना की कुछ अन्य विशेषताओं के संदर्भ में बताते हैं, जिनकी एक संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है -

मानस चेतना कुछ निर्धारित रूपों में ही अभिव्यक्त होती है । पाँच बाह्येंद्रियाँ, मन, शारीरिक संवेदन, विचारों का प्रवाह आदि कुछ निर्धारित रूपों में ही चेतना स्वयं को अभिव्यक्त करती है । चेतना की अभिव्यक्ति के ये ही निश्चित रूप क्यों हैं, इसके विषय में कोई स्पष्ट उत्तर नहीं है । एक अन्य विशेषता की ओर संकेत करते हुए सर्ल कहते हैं कि हमें प्रायः सुखात्मक व दुखात्मक अनुभूतियाँ होती हैं, ये चेतन अनुभूतियाँ हैं, जिनके अपने विशिष्ट निर्धारित क्षेत्र हैं जैसे भोजन की महक से होने वाली सुखात्मक अनुभूति, मधुर गीत सुनकर होने वाली सुखात्मक अनुभूति से भिन्न है ।

हमें होने वाले समस्त चेतन अनुभवों में एक प्रकार की एकता होती है । एक समय में हम अपने दाँत के दर्द के प्रति सचेत होते हुए भी, सामने खिडकी से दिखने वाले बगीचे के प्रति भी सचेत होते हैं और कानों में पड़ने वाले संगीत के प्रति भी सचेत होते हैं । ये सभी घटनाएँ एक ही समय में, एक ही चेतना में घटित होती हैं किन्तु यह अभी तक ज्ञात नहीं किया जा

RajGuru Math, Shivala, Varaṇasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सका है कि चेतना इस एकता को किस प्रकार प्राप्त करती है । न्यूरोफिजिऑलॉजी में इसे The Binding Problem कहा जाता है ।

चेतना विषयापेक्षी होती है । हम सदैव किसी विषय के प्रति चेतन रहते हैं किन्तु सर्ल कुछ ऐसी चेतन अवस्थाओं के विषय में बताते हैं जिन्हें किसी विषय की अपेक्षा नहीं रहती है । जैसे मैं किसी अच्छी या बुरी मनःस्थिति में हो सकती हूँ किन्तु मेरी इस मनःस्थिति का संबंध किसी वस्तु-विशेष से नहीं हो सकता है।

चेतन-अनुभव सदैव एक दृष्टिकोण से युक्त होता है । वस्तुओं का अपना कोई दृष्टिकोण या पक्ष नहीं होता है । यदि मैं कोई स्वर सुनती हूँ तो निश्चित रूप से उसके कुछ पक्षों को ग्रहण करती हूँ । प्रत्येक विषयापेक्षा सपक्षिक होती है, अर्थात् उसका एक पक्ष होता है । हम किसी वस्तु को मात्र देखते नहीं हैं बल्कि उसे किसी रूप में देखते हैं । उत्तरकालीन विट्गेन्स्टाइन ने भी 'देखने' (seeing) और 'किसी रूप में देखने' (seeing it as) में भेद किया है ।[५] अतः सर्ल के अनुसार हमारे चेतन अनुभव किसी दृष्टिकोण से युक्त होते हैं; वे शुष्क संवेदनाओं का ग्रहण मात्र नहीं होते हैं।

सर्ल के अनुसार चेतना और विषयापेक्षा परस्पर संबंधित है । उसी के पास विषयापेक्षी अवस्था हो सकती है जिसके पास चेतन विषयापेक्षी अवस्था हो और प्रत्येक अचेतन विषयापेक्षी अवस्था कम से कम चेतना की सामर्थ्य रखती है । उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति गाड़ी चला रहा है, प्यार-परिवार के विषय में कुछ सोच रहा है । यहाँ गाड़ी चलाने की चेतना भले ही उस व्यक्ति की चेतना के केंद्र में न हो किन्तु चेतना के केंद्र में आने की सामर्थ्य उसमें अवश्य है ।

हमारे चेतन अनुभवों में हम बहुत-सी वस्तुओं को जाना-पहचाना पाते हैं । प्रतिदिन दिखने वाला कमरा हमें पहचाना लगता है । सड़क पर चलते हुए लोग, दुकान, भीड़ का वह वातावरण सब जाने-पहचाने लगते हैं । किसी अपरिचित जगह पर भी चले जाएँ और वहाँ लोगों की वेशभूषा में अंतर हो तब भी कम से कम इतनी पहचान अवश्य रहती है कि ये मनुष्य ही हैं, ये सड़कें ही हैं । तीन सिर वाली औरत भी दिखे तो कम से कम 'यह औरत है', इतना हम जानते हैं।

चेतना के प्रवाह में या तो चीजें उसके केंद्र में होती हैं या उसके किनारे पर । जो विषय चेतना के किनारे पर हैं, उनके विषय में यह कहना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कि हम उसके संबंध में अचेतन हैं, गलत है । वह विषय चेतना के प्रवाह में मात्र किनारे पर है और किसी भी क्षण चेतना के केंद्र में आ सकता है।

हमारी चेतना एक निश्चित काल, स्थान, समाज, जैविक-स्थिति में विद्यमान है। संभवतः इसी कारण हम प्रायः यह नहीं सोचते हैं कि हम कहाँ हैं? नाश्ता किए हुए कितना समय हो गया? यह महीने का कौन सा दिन है ? मेरा नाम क्या है? आदि । इन समस्त प्रश्नों के उत्तर चेतना में कहीं न कहीं विद्यमान हैं । संभव है वे न ही चेतना के केंद्र में हों और न ही उसके किनारे पर किन्तु वे हैं अवश्य।

इस प्रकार सर्ल चेतना के विविध आयामों अथवा पक्षों की विवेचना करते हैं किन्तु उनके मत में चेतना हमें ज्ञान में उसी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकती है, जिस प्रकार संसार की अन्य वस्तुएँ प्राप्त होती हैं । 'ऐसा क्यों है कि चेतना हमें ज्ञान में उपलब्ध नहीं हो सकती ?' इस प्रश्न के उत्तर में सर्ल कहते हैं कि चेतना की 'वैयक्तिकता', चेतना के ज्ञान को असंभव बना देती है ।[६]

यहाँ वैयक्तिकता शब्द का प्रयोग सर्ल सामान्य से भिन्न अर्थ में कर रहे हैं । बोल-चाल की भाषा में जब हम 'वैयक्तिक' शब्द का प्रयोग करते हैं तो ऐसा मात्र निर्णयों के लिए करते हैं । उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति कहता है कि 'रफी सोनू निगम से श्रेष्ठ गायक हैं' तो यह निश्चित रूप से एक वैयक्तिक मत है, जिसकी सत्यता अथवा असत्यता वस्तुतथ्य के आधार पर जाँची नहीं जा सकती है क्योंकि संभव है किसी अन्य व्यक्ति को सोनू निगम रफी से श्रेष्ठ गायक लगते हों । अतः बोलचाल की भाषा में वैयक्तिक शब्द का प्रयोग हम 'ज्ञानात्मक स्तर'पर करते हैं किन्तु जब सर्ल चेतना की वैयक्तिकता की बात करते हैं तो ऐसा वे तथ्यात्मक स्तर पर करते हैं । चेतना की वैयक्तिकता, सत्तामूलक स्तर की वैयक्तिकता है । इस विषय को सर्ल एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं । उनके अनुसार यदि कोई व्यक्ति कहता है कि उसे पीठ के निचले हिस्से में दर्द हो रहा है तो यह वाक्य इस अर्थ में पूर्णतः तथ्यात्मक है कि इस वाक्य की सत्यता-असत्यता एक निश्चित तथ्य से निर्धारित की जा सकती है, किन्तु दर्द अथवा पीड़ा स्वयं में वैयक्तिक है । पीड़ा का अस्तित्व स्वयं में वैयक्तिक है । इसी अर्थ में सर्ल चेतना को भी वैयक्तिक मानते हैं ।[७] इसे ही स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि किसी व्यक्ति के 'पैर' को उतने ही कठोर अर्थ में उसका पैर नहीं कहा जा सकता है,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जितना उसकी पीड़ा को उसकी पीड़ा कहा जा सकता है। जो पीड़ा उसे है, उस तक किसी और की पहुँच नहीं है । हम कह सकते हैं कि पीड़ा का अस्तित्व मात्र प्रथम पुरुष के संदर्भ में ही है । इसी प्रकार चेतना भी सदैव किसी की चेतना होती है । जैसे मेरा, मेरी चेतना से विशेष संबंध है, उसी प्रकार किसी अन्य व्यक्ति का उसकी अपनी चेतना से विशेष संबंध है जिस तक मेरी पहुँच संभव नहीं है।

पुनः सर्ल के अनुसार चेतना, विषयापेक्षी होती है और हमारी चेतना का विषयापेक्षी स्वरूप जिससे हमें संसार के विषय में पता चलता है, सदैव ही एक विशेष दृष्टि से युक्त होता है । यह दृष्टिकोण वैयक्तिक चेतना द्वारा निर्धारित होता है किन्तु यदि ऐसा ही है तो हम संसार को चित्रित करते हुए मात्र ठोस भौतिक वस्तुओं को ही क्यों चित्रित करते हैं ? हम उस चेतना को चित्रित क्यों नहीं कर पाते हैं जिसके कारण ही हमें संसार की वस्तुओं का ज्ञान होता है । इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सर्ल कहते हैं कि चेतना अपनी वैयक्तिकता के कारण ही हमें दिखाई नहीं देती है, न ही हमें उसका ज्ञान हो पाता है । ज्ञानमीमांसात्मक स्तर पर हम वास्तविकता को चेतना के द्वारा ही जान पाते हैं किन्तु इसी प्रकार चेतना तक पहुँचने का हमारे पास कोई भी साधन नहीं है । जहाँ चेतना के ज्ञान का प्रश्न है वहाँ प्रत्यक्षीकरण और प्रत्यक्ष के विषय में कोई भेद ही नहीं है । यद्यपि वे इस संभावना को अस्वीकार नहीं करते हैं कि संभवतः भविष्य में वर्तमान मनुष्य से अधिक विकसित जीव हों जिन्हें उन बहुत से विषयों का ज्ञान हो सके, जिन्हें न जान पाना मानव-मस्तिष्क की सीमा है । किन्तु चेतना के ज्ञान को वर्तमान समय में सर्ल असंभव बताते हुए स्वीकार करते हैं कि यह मानना त्रुटि होगी कि मानव-मस्तिष्क द्वारा सब कुछ ग्राह्य है ।

निष्कर्ष : इस प्रकार सर्ल यह स्वीकार करते हैं कि चेतना न तो मानसिक है और न ही भौतिक, यद्यपि यह भौतिक स्नायु-तंत्रिकाओं की क्रिया से उत्पन्न एक उच्चतर गुण है । पुनः चेतना सत्तामूलक अर्थों में वैयक्तिक है । इसका तार्किक परिणाम यही ज्ञात होता है कि प्रत्येक व्यक्ति की चेतना उसकी अपनी विशिष्ट चेतना है तथा किसी अन्य व्यक्ति की पहुँच उस तक संभव नहीं है । पुनः जब हम चेतना के ज्ञान की बात करते हैं तब वहाँ प्रत्यक्षीकरण और प्रत्यक्ष के विषय में कोई भेद नहीं रह जाता है और उसकी यही विशेषता चेतना के ज्ञान को असंभव बना देती है क्योंकि पाश्चात्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दर्शन-जगत् में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की क्रिया की त्रिपुटी के अभाव में ज्ञान को संभव नहीं माना गया है । इस प्रकार चेतना के संबंध में सर्ल तत्त्व के स्तर पर तो भौतिक और मानसिक के द्वैत से बाहर आ जाते हैं किन्तु ज्ञान के स्तर पर वे ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत का समाधान नहीं कर पाते हैं ।

नंदिनी सिंह
एम.फिल. शोध छात्रा, दर्शन विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली - ७

टिप्पणियाँ

१. ध्यातव्य है कि प्रस्तुत लेख में चेतना की बात मानव-चेतना के संबंध में ही की जा रही है ।

२. प्रो. देवकीनंदन द्विवेदी, अध्यक्षीय भाषण, चेतना की भौतिकवादी व्याख्या, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, स्वर्णजयन्ती अधिवेशन

३. "We cannot get at the reality of conciousness in the way that, using conciousness, we can get at the reality of other phenomena." Searl, J.R., The Rediscovery of the Mind, pp. 96-97.

४. "Consciousness is a higher level or emergent property of the brain in the utterly harmless sense of higher-level or emergent in which solidity is a higher-level emergent property of H_2O molecules when they are in a lattice structure(ice)..." Ibid. p. 14

५. Ibid, ch. XXVII, 23, 11, 12.

६. ".... subjectivity is responsible, more than anything else, for the philosophical puzzlement concerning concsiousness." Ibid. p.131.

७. ".... the actual pain itself has a subjective mode of existence, and it is in that sense in which I am saying that consciousness is subjective." Ibid, p. 94.

८. भारतीय दर्शन में जैन-संप्रदाय के अंतर्गत मनःपर्याय ज्ञान के अंदर दूसरे व्यक्ति की चेतना और मन में बिना उसके बताए प्रवेश करके उसके अंतरमन की बातों को जान जा सकता है ।

९. "But we should never forget who, we are and for such as us, it is a mistake to assume that everything that exsts is comprehensible to our brains." Ibid, p. 24.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कंप्यूटर विज्ञान और दार्शनिक चिंतन

प्रस्तुत लेख का लक्ष्य कंप्यूटर विज्ञान और उसके अंतर्गत हो रहे कृत्रिम बुद्धि से संबंधित अनुसंधान और विकास के निहितार्थों को जीवन की समग्रता में समझने का प्रयास है । इसके लिए कंप्यूटर विज्ञान के दार्शनिक आधारों को स्पष्ट करना जरूरी हो जाता है, जिनकी झलक हमें दर्शन के इतिहास में मिलती है । अतः इस लेख में विषय-प्रतिपादन के लिए ऐतिहासिक और समस्यामूलक दोनों ही पद्धतियों का सहारा लिया गया है । यह लेख तीन भागों में विभक्त है । पहले भाग में यह स्पष्ट करने की कोशिश की गयी है कि कंप्यूटर विज्ञान किस तरह दर्शनशास्त्र से संबंधित है । दूसरे भाग में कृत्रिम बुद्धि विषयक दावों की दार्शनिक समीक्षा का प्रयास किया गया है । इससे अंततः कंप्यूटर की सीमाओं का भी संकेत मिलता है जिनपर तीसरे भाग में प्रकाश डाला गया है ।

I

हमारा समय विशिष्टीकरण का युग है । बहुविध विज्ञानों के बीच नवोदित कंप्यूटर विज्ञान की स्थिति भी विशिष्ट है । यहाँ काबिल-ए-गौर यह है कि जो बातें कंप्यूटर विज्ञान को विशिष्ट बनाती हैं, वे ही उसे दर्शनशास्त्र से जोडती हैं । टी. आर. कोलबर्न के अनुसार "कंप्यूटर विज्ञान" वह विज्ञान है जो संगणनात्मक प्रक्रिया के अध्ययन से संबंधित है । संगणानात्मक प्रक्रिया रासायनिक या विद्युतीय जैसी अन्य वैज्ञानिक प्रक्रियाओं से इस बात में भिन्न है कि इसमें विषय के भौतिक लक्षणों पर ध्यान नहीं दिया जाता ।"[१] यह अध्ययन मॉडेलों के माध्यम से संपन्न होता है । इन मॉडेलों की रचना का मूलभूत सिद्धांत वास्तविक वस्तुओं और घटनाओं का प्रतिरूपण है । बी. सी. स्मिथ ने ठीक ही कहा है कि "कंप्यूटर प्रतिरूपणों पर अपना काम करते हैं और प्रतिरूपण हमेशा मॉडेलों के रूप में निर्मित होते हैं । प्रतिरूपण के बिना कोई संगणना संभव नहीं है।"[२] प्रसंगवश यहाँ दार्शनिक महत्त्व के कतिपय प्रश्न उपस्थित होते हैं :

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(१) कंप्यूटर मॉडेल वास्तविक विश्व से किस तरह संबंधित है ?[३]

(२) उन मॉडेलों का मौलिक स्वरूप क्या है ?[४]

पहला प्रश्न ज्ञानमीमांसीय है । इसके उत्तर में स्मिथ का मत विचारणीय है । उनके अनुसार, " एक दृष्टि से मॉडेल को हम उस चश्मे के समान समझ सकते हैं जिसके माध्यम से कोई प्रोग्राम या कंप्यूटर विश्व को देखता है ।"[५] इस मत के समानान्तर ही दर्शन के इतिहास में यथार्थवादी दार्शनिकों ने 'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय' के विषय में त्रि-घटकीय सिद्धांत का प्रतिपादन किया है । पहली बार जॉन लॉक ने स्पष्ट किया कि हमारा मन वस्तुओं को सीधे नहीं जानता, बल्कि उन्हें प्रत्ययों के माध्यम से ही जानता है । इसलिए वी. प्रैट ने बतलाया है कि 'कंप्यूटर-मॉडल-विश्व' के संबंध विषयक मूल अंतर्दृष्टि १७वीं शताब्दी में ही उभर चुकी थी, जब चिन्तन के प्रतिनिध्यात्मक सिद्धांत का उदय हुआ था ।[६] परंतु ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद पर अतिशय जोर देने के चलते लॉक का प्रतिनिध्यात्मक वास्तववाद निरापद नहीं रह पाता । इसलिए स्मिथ का झुकाव समकालीन समीक्षात्मक वास्तववादियों की ओर भी है । समीक्षात्मक वास्तववाद के अनुसार जिस तरह आँखों पर चढा चश्मा खुद देखा नहीं जाता पर दूसरी चीजों को देखने का माध्यम बनता है उसी तरह ज्ञान में प्रदत्त का अवग्रहण नहीं होता पर उसी के माध्यम से अन्य चीजों को जाना जाता है ।[७] अतः ज्ञानमीमांसा के अंतर्गत दार्शनिकों ने कंप्यूटर विज्ञान की कुछ आधारभूत समस्याओं का सैद्धांतिक समाधान प्रस्तुत किया है ।

लेकिन स्मिथ के मतानुसार "अब तक के हमारे बौद्धिक इतिहास में वास्तविक विश्व और माडल के संबंधों को उजागर करनेवाला कोई सिद्धांत उपलब्ध नहीं है ।"[८] वास्तव में यह समस्या विज्ञानों के प्रत्यक्षमूलक दृष्टिकोण और उनके अति-विशिष्टीकरण के कारण उत्पन्न होती है । दार्शनिक दृष्टि हमारे ज्ञान-विज्ञान को ऐसे खाँचों में सीमित देखना नहीं चाहती । कंप्यूटर विज्ञान की इस बुनियादी समस्या के समाधान के लिए स्वयं कंप्यूटर विज्ञान के दायरे से बाहर निकलकर एक समग्र दृष्टिकोण अपनाना अवश्यक है । इस दृष्टि से जेम्स एच. फेत्जर का यह मत बिल्कुल सही जँचता है : "आनुभविक विज्ञान विश्व के खण्ड-विशेषों के मॉडेल की खोज के रूप में समझे जा सकते हैं, जबकि विज्ञान के दर्शन जो कि उसका पूरक है, को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विज्ञान के समुचित मॉडल के रूप में समझा जा सकता है ।[१]

हमारा दूसरा प्रश्न तात्त्विक महत्त्व का है । दैनिक जीवन में हमें भौतिक प्रतिकृतियों और कामचलाऊ नमूनों से लेकर अमूर्तबोधित प्रतिरूपों तक कई तरह के मॉडेल मिलते हैं । विभिन्न प्रकार के मॉडेलों में प्रतिरूप और प्रतिरूपित के बीच कमोबेश एकैकसमाकारी संबंध का पाया जाना उनकी सामान्य विशेषता है । फिर इन मॉडेलों के बीच एक सोपानक्रम भी पाया जाता है । जिन मॉडेलों के आधार पर कंप्यूटर की कार्यवाही चलती है वे वास्तव में भौतिक नहीं, बल्कि अमूर्तबोधित होते हैं । ज्यों-ज्यों कंप्यूटर अधिक विकसित हो रहे हैं त्यों-त्यों उनमें प्रयुक्त अमूर्तबोधन बहुस्तरीय और जटिल होते जा रहे हैं । जब कंप्यूटर मॉडल के प्रतिरूपण पर्याप्ततया वस्तु-संवादी होते हैं तब उनके द्वारा निर्मित परिवेश को 'वर्च्युअल वर्ल्ड' कहते हैं । इसलिए कोलबर्ग ने ठीक ही कहा है : ''कंप्यूटर वैज्ञानिक की दुनिया असल में अमूर्तबोधन की दुनिया ही है ।[११]

अतएव कंप्यूटर मॉडेल अपने मूल स्वरूप में आकारिक ही होते हैं। कंप्यूटर प्रोग्रामिंग की निम्न से लेकर अब तक की उच्चस्तरीय भाषाएँ वास्तव में अमूर्तबोधन पर आधारित आकारीकृत मॉडलों के रूप में ही संरचित होती हैं । यही कारण है कि कंप्यूटर विज्ञान में शुरू से ही आकारिक तर्कशास्त्र का बुनियादी महत्त्व रहा है। विशेष रूप से बूलीय तर्कशास्त्र के आधार पर ही कंप्यूटर में 'लॉजिक गेट' का डिजायन संभव हो सका। सर्वप्रथम क्याउडे ई. शेनॉन ने जॉर्ज बूल की बीजगणितीय पद्धति का उपयोग करके यह स्पष्ट किया कि जिस तरह तर्कशास्त्र की समस्याएँ सत्य या असत्य (T/F) के रूप में द्वि-आधारी निर्णय के विषय होती हैं उसी तरह 'रिले सर्किट' की समस्याएँ भी चालू या बंद (On/Off) दशाओं के रूप में द्वि-आधारी होती हैं । इसलिए शेनॉन ने बतलाया कि ऐसी मशीन बनाना संभव है जो किसी स्विचिंग सर्किट में प्रवाहित विद्युत धारा की 'ऑन' और 'ऑफ' दशाओं को 'बीटस्' (0/1) के रूप में पहचान सके और तद्नुरूप काम कर सके।[१२] दर्शन के इस प्रदेय को आज भी कंप्यूटर वैज्ञानिक स्पष्टतया स्वीकारते हैं।[१३]

II

अपने उद्भव से अब तक लगभग आधी शताब्दी की अवधि में ही कंप्यूटर ने वस्तुओं और घटनाओं का अनुरूपण करने में आश्चर्यजनक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपलब्धियाँ हासिल की हैं । यह दावा भी किया जा रहा है कि सिद्धांततः मानवीय चिंतन का भी कंप्यूटरीकृत अनुरूपण संभव है; अर्थात कंप्यूटर सोच सकता है । इस विषय पर कतिपय विचारशील कंप्यूटर वैज्ञानिकों ने १९५६ में डार्टमाउथ में एक ऐतिहासिक सम्मेलन का बाकायदा आयोजन भी किया था । इसी सम्मेलन में 'आर्टिफिशियल इंटेलिजेन्स' के नाम से कंप्यूटर विज्ञान की सर्वाधिक चुनौतीपूर्ण शाखा का जन्म हुआ ।

कृत्रिम बुद्धि के मामले में मन के दर्शन की प्रासंगिकता सुविदित है। परंपरागत दृष्टि से मन के दर्शन के अंतर्गत मन और शरीर (चेतन और भौतिक द्रव्यों) के अंतःसंबंधों को केंद्रीय समस्या के रूप में विचारा गया है । देकार्तीय दर्शन के प्रभावस्वरूप यह धारणा बद्धमूल-सी हो गयी कि भौतिक द्रव्य के किसी भी रूप में सोचने की क्षमता नहीं हो सकती । कारण कि सोचना चेतना आत्म-द्रव्य का अनन्य गुण है । फिर, सजीव-निर्जीव का परंपरागत जीवशास्त्रीय विभाजन भी हमारे दिलोदिमाग पर हावी रहा है। जैसा कि एन्थनी केनी ने कहा है : "कंप्यूटर सजीव नहीं हैं, और केवल सजीव प्राणी ही सोच सकते हैं ।" इसलिए कृत्रिम बुद्धि की संप्रत्यात्मक संभावना को पुष्ट करने के लिए ऐसे द्वैतवाद और द्वि-विभाजन से पार पाना आवश्यक हो जाता है । पहले भी भौतिकवादियों ने चेतना को भूत में अंतर्भूत करने या उससे व्याख्यायित करने का प्रयास किया था । यदि भौतिकवाद निरापद होता तो कंप्यूटर के तथाकथित सोचने की क्षमता को एक ठोस तत्त्वमीमांसीय आधार मिल गया होता । पर भौतिकवाद एक संतोषजनक सिद्धांत के रूप में कभी भी प्रतिष्ठित नहीं हो सका।

इसलिए आजकल कृत्रिम बुद्धि के सैद्धांतिक आधार के रूप में व्यवहारवाद और उससे विकसित प्रकार्यवाद को प्रस्तुत किया जाता है। सर्वप्रधान एलेन तुरिंग ने इसे एक वैचारिक प्रयोग के रूप में विकसित किया जो कि 'तुरिंग परीक्षा' के नाम से प्रसिद्ध है । इसके अंतर्गत तीन पक्षों के बीच संभाषण की संकल्पना की गयी है — (१) कंप्यूटर, (२) एक मनुष्य, और (३)एक मानवीय प्रश्नकर्ता । इनमें से तीसरे को प्रथम दो संभाषियों से अलगाकर रखा गया है । अब तुरिंग के अनुसार, यदि मानवीय प्रश्नकर्ता कंप्यूटर और मनुष्य दोनों से समान प्रश्न (input) करता है, तथा उनसे उसे जो उत्तर (output) मिलते हैं उनमें अंतर नहीं किया जा सके तो कंप्यूटर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और मनुष्य अंतर्बदल है । तुरिंग के मतानुसार इसका अर्थ यह भी है कि कंप्यूटर 'इंटेलिजेंट' है, क्योंकि मानवीय प्रश्नकर्ता के कंप्यूटर तथा विवेकशील मनुष्य द्वारा दिए गए उत्तरों में कोई व्यावहारिक अंतर नहीं रह जाता । उनका विश्वास था कि कंप्यूटरों के पर्याप्त तकनीकी विकास के साथ वह स्पष्ट हो जाएगा और तब हम बिना किसी व्याघ्यात के कह सकेंगे कि कंप्यूटर 'सोच' सकता है ।[१६]

किन्तु बाहरी व्यवहार का सतही सादृश्य कृत्रिम बुद्धि की संप्रत्ययात्मक संभावना को सिद्ध नहीं कर सकता । इसके लिए मानवीय तर्कबुद्धि का एक ऐसा सशक्त मॉडेल आवश्यक है जो संगणनात्मक स्वरूपवाला हो । पहली बार टॉमस हॉब्ज ने चिंतन के संगणनात्मक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया । हाब्ज का मत है कि दर्शन 'प्राकृतिक बुद्धि' से अभिन्न है जिसका सारगुण 'रेशियोशिनेसन' है । उसके अनुसार रेशियोसिनेशन का अर्थ संगणना है : "By ratiocination, I mean Computation" । हाब्ज ने संगणना के संप्रत्यय का सामान्यीकरण करके उसे गैर-संख्यात्मक संदर्भों में भी लागू करने का प्रयास किया है ।[१७]

हाब्ज की पहल को कृत्रिम बुद्धि पर काम करनेवालों ने अत्यंत अनुकूल और स्वागतयोग्य पाया है । उन्होंने इसे 'प्रतीक तंत्र प्राक्कल्पना' के रूप में विकसित किया है।[१८] इस प्राक्कल्पना के अनुसार, मानव-मस्तिष्क और कंप्यूटर दोनों की ही आंतरिक कार्यवाही मूलतः नियमों से शासित प्रतीक-परिचालन के आधार पर संपन्न होती है, इसीलिए ये दोनों परस्पर अनुकूलनशील हैं। इसका अर्थ है कि कंप्यूटर को भी इस तरह प्रोग्राम करना संभव है जो सोच सके। यहाँ यह ध्यान रखना जरूरी है कि 'प्रतीक तंत्र प्राक्कल्पना' कोई स्थापित सिद्धांत नहीं, बल्कि एक विचारोत्तेजक और कुतूहलजनक प्राक्कल्पना मात्र है । आजकल यह एक गंभीर अन्वेषणा का विषय है ।[१९]

III

कंप्यूटर दिनोंदिन तेज और सटीक होते जा रहे हैं । फिर भी उन्हें सही अर्थों में 'इंटेलिजेन्ट' नहीं कहा जा सकता । वजह कि कंप्यूटर की समस्त कार्यवाही मानव द्वारा पूर्वनिर्धारित प्रोग्रामिंग के अनुसार ही चलती है । इसलिए कइयों की नजर में तो 'कृत्रिम बुद्धि' महज एक मिथ्या नाम या व्याघ्याती विशेषण है। यहं भी सही है कि कृत्रिम बुद्धि की धारणा को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैज्ञानिक गल्प साहित्य और सिनेमा से काफी बढावा मिला है।[२०]

परंतु विशेषज्ञ कृत्रिम बुद्धि को असंभव नहीं मानते। कृत्रिम बुद्धि के तीन मुख्य क्षेत्र हैं - 'एक्सपर्ट सिस्टम', 'रोबोटिक्स' तथा 'नेच्यूरल लैंग्वेज प्रोसेसिंग'। प्रथम दो मामलों में कंप्यूटर ने काफी कुछ कर दिखाया है । कंप्यूटर जैसे कि 'गेम-एप्लीकेशन' (शतरंज आदि) और कृत्रिम 'मायको-वर्ल्ड' (रोबोटिक्स) में कंप्यूटर की उपलब्धियाँ अत्यंत उत्साहवर्धक रही हैं। असल में ऐसे संदर्भों में 'परिवेश', 'नियंत्रित', सरलीकृत और सुपरिभाषित होता है । दूसरी ओर वास्तविक जीवन की स्थितियाँ बड़ी ही जटिल और अनिश्चित होती हैं । इन्हें समझने और साधने के लिए सामान्य बुद्धि की आवश्यकता होती है । मगर सामान्य बुद्धि की प्रोग्रामिंग कंप्यूटर विज्ञान के लिए आरंभ हो ही सब से बड़ी समस्या रही है । एक प्रसिद्ध कंप्यूटर वैज्ञानिक ने ठीक ही कहा है : 'शुरू से ही यह समझ लिया गया है कि एक कुत्ते की सहज बुद्धि को पकड में लाने की अपेक्षा दुरूह आकारिक संक्रियाओं के लिए प्रोग्राम लिखना काफी आसान है ।'[२१]

प्रश्न उठता है कि कंप्यूटर की इस असफलता का क्या कारण है ? इसका उत्तर कंप्यूटर की संकीर्ण प्रतिरूपण पद्धति में निहित है । उसे किसी भी घटना की दो ही स्थितियाँ स्वीकार्य हैं - या तो वह पूर्णतः घटित होता है (सत्य) या बिल्कुल ही घटित नहीं होता (असत्य)। पर हमारे जीवन की समस्याएँ इतनी उलझी हुई होती हैं कि उनका इस तरह से दो टूक समाधान प्रायः संभय नहीं होता । कई बार घटनाएँ अंशतः ही पूरी हो पाती हैं (जैसे प्रेम में) पर उनकी सार्थकता और महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता । ऐसी स्थितियों के लिए आजकल 'फजी लॉजिक' का अनुसंधान चल रहा है । फजी लाजिक सत्य (1) और असत्य (0) के बीच मूल्यों के एक सातत्य को स्वीकार करता है । अतः किसी भी चर के लिए इस सातत्य में असीमित संभावनाएँ हो सकती हैं ।[२२] लेकिन आलोचनात्मक दृष्टि से फजी लॉजिक कभी आकारिकता और द्वि-आधारिकता से मुक्त नहीं है ।

जहाँ तक 'नेच्यूरल लैंग्वेज प्रोसेसिंग' कास सवाल है तो यहाँ कंप्यूटर प्रतीकों पर कारगुजारी करनेवाला महज एक मशीन है । जॉन सर्ल ने एक वैचारिक प्रयोग - The Chinese Room Argument द्वारा इसे प्रभावशाली ढंग से दिखलाया है । इसके अनुसार एक मनुष्य जो कि चीनी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भाषा बिल्कुल ही नहीं जानता है, परंतु उसे चीनी भाषा के शब्दकोशीय और वाक्य-विन्यासात्मक नियमों की भरपूर सामग्री के साथ एक कमरे में बंद कर दिया जाता है । फिर, बाहर से चीनी भाषा में पुर्जों पर प्रश्न लिखकर कमरे के भीतर क्रमशः सरकाए जाते हैं । अब, सर्ल के अनुसार, सिद्धांततः यह संभव है कि वह व्यक्ति कमरे के भीतर उपलब्ध सामग्री से यंत्रवत् मिलान करके उन प्रश्नों का सही उत्तर दे दे । इसी तरह कंप्यूटर के सही 'आउटपुट्स' से यह निष्कर्ष कतई नहीं निकाला जा सकता कि वह 'इनपुट्स' पर सोच-समझकर कार्यवाही करता है ।[२३]

अतः कंप्यूटर वाक्य-विन्यास के नियमों का भले ही बखूबी पालन कर ले पर अर्थ-विज्ञान उसकी पकड से बाहर है । असल में भाषा के भौतिक लक्षणों तथा उसकी तार्किक संरचना की प्रोग्रामिंग आसान है, क्योंकि उनका आकारीकरण कठिन नहीं है । लेकिन अर्थ की समस्या, संदर्भात्मक समझ तथा व्याख्या-कौशल कुछ ऐसे पहलू हैं जो कंप्यूटर की पकड से परे जान पडते हैं ।[२४]

दरअसल मानव में केवल तर्कबुद्धि ही नहीं, बल्कि भाव-संवेग भी है । हमारे भाव-पक्ष का कोई सुनिश्चित तर्कशास्त्र नहीं होता । पर हमारी सोचने की क्रिया पर उसका निर्णायक प्रभाव पड़ता है । अतः सोचना कोई यांत्रिक व्यापार नहीं है । मानव के सोचने की क्षमता से उसकी कल्पना-शक्ति और सृजन-सामर्थ्य भी जुड़ हैं । सृजनात्मकता मानव की ऐसी विशेषतः है जो यांत्रिक नियमों से शासित नहीं होती । सृजनात्मकता की प्रोग्रामिंग नहीं की जा सकती। वह नित नये रूपों में प्रकट होती है । कंप्यूटर की रचना भी मानवीय कल्पना और सृजन का ही फल है । कंप्यूटर की आधारभूत प्रोग्रामिंग के लिए भी संप्रत्ययन जरूरी है और उसके लिए तर्कबुद्धि के अलावा अनुभूति और कल्पना आवश्यक है । अतएव एक अत्यंत कारगर यंत्र के रूप में कंप्यूटर ने मानव के सोचने-समझने और काम करने की क्षमता को कई गुणा बढ़ा दिया है, तथापि वह कभी भी विवेकशील मनुष्य का विकल्प नहीं हो सकता ।

रवींद्र कुमार सिंह चौधरी
व्याख्याता, दर्शन विभाग,
राजा शिव प्रसाद (स्नातकोत्तर) महाविद्यालय,
झरिया, धनबाद, झारखण्ड - ८२८१११

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

1. Copeland, J., Artificial Intelligence : A Philosophical Introduction, Blackwell, Oxford, 1993, pp. 182, 249
2. Colburn, T. R., Philosophy and Computer Science, M. E. Sharp, New York, 2000, p. 8
3. Smith, B. C., "Limits of Correctness in Computers", Technical Report SCLI, 1985, Reprinted in D. Johnson and H. Nissenbamn (eds.), Computers, Ethics and Social Values, Prentice Hall, NJ, 1995, p. 460
4. See Fetzer, J. H., "Philosophical Aspects of Program Verification", in T.R. Colburn et al, eds. Program Verification : Fundamental Issues in Computer Science, Kluwer, Dordrecht, 1993, pp. 403-28
5. See, for example, Lenant, D.B., and Guha, R.V., Building Large Knowledge-Based Systems : Representation and Inference in CYC Project, Addiso-Wesley, Mass, 1990
6. Smith, B.C., Op. Cit, p. 426
7. Pratt, V., Thinking Machines : The Evolution of Artificial Intelligence, Blackwell, Oxford, 1987, p. 2
8. Datta, D.M., The Chief Currents of Contemporary Philosophy, University of Culcutta, 3rd ed., 1970, pp. 352-53
9. Smith, B.C., Op. Cit, p. 462, cf. Wittgenstein, Tractatus, 2.12, 2.172
10. Fetzer, J.H., "Computer Reliability and Public Policy : Limits of Knowledge of Computer-Based Systems", in E. Paul Op. Cit, eds., Scientific Innovation, Philosophy and Public Policy, Cambridge University Press, NY., 1996, p. 252 f.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

11. Colburn, T. R., Op. Cit, p. 8
12. Ibid, p. 175
13. Shannon, C.E., "A Symbolic Analysis of Relay and Switching Circuits" (1938) in Collected Papers, IEEE Computer Society, Calif., 1993
14. Gothmann., W.H., Digital Electronics : An Introduction to Theory and Practice, Prentice Hall (India) Ltd., 2000, p. 71
15. Crevier, D., AI : The Tumultous History of the Search for Artificial Intelligence, Harper Collins, 1993, p. 26
16. Kenny, A., The God of Philosophers, Oxford University Press, 1979, p. 123
17. Turing A., "Computing Machinery and Intelligence", Mind, 59 (1950), pp. 433-60
18. Hobbes, T., Elements of Philosophy, p. 4. See also T.R. Colburn, Op. Cit, pp. 27-30
19. Colburn, T. R., Op. Cit, p. 65
20. For details see, Fodor, J., The Language of Thought, Thomas Y. Crowell, NY, 1975, also Pylyshyn. Z., Computation and Cognition : Towards a Foundation for Cognitive Science, MIT Press, 1984
21. See, for example, Artificial Intelligence, a film by Steven Spielberg, 2001
22. Winogard, T., Understanding Computers and Cognition, Alex, NJ, 1986, p. 98
23. Introduction by Lotfi Zadeh in his classic paper "Fuzzy Sets", 1965, Information and Control (8), pp. 338-53
24. Serle, J., Minds, Brains and Programs" in R.Born, ed., Artificial Intelligence : The Case Against, Room Helm, 1987, pp. 18-40
25. Floridi, L., Philosophy and Computing : An Introduction, Routledge, 1999, p. 144

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

* यह लेख भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में एसोसिएट के रूप में हाल ही में प्रस्तुत मेरे अप्रकाशित शोध-पत्र "Some Reflections on the Philosophical Foundations of Artificial Intelligence" का अनुदित एवं संशोधित रूप है। शोध-पत्र पर परिचर्चा के दौरान समालोचनात्मक टिप्पणियों के लिए मैं संस्थान के असोसिएटस् और फेलोज का आभारी हूँ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैदिक रहस्यवाद एवं पाश्चात्य रहस्यवाद

सृष्टि-रहस्य, ईश्वर, ब्रह्म, माया एवं जीव-जगत् से सम्बन्धित चिन्तन ही 'Mysticism' या 'रहस्यवाद' है, जिसे भारतीय प्रज्ञा आध्यात्मिक चिन्तन के रूप में वैदिक युग से ही विश्लेषित करती रही है । व्युत्पत्ति की दृष्टि से Mysticism ग्रीक धातु Mystes या Mustes से बना है, जिसका अर्थ जीवन-मृत्यु के रहस्यों की खोज करना है । Mysticism रहस्यानुभूति के अधिक निकट है । वैदिक तत्त्ववेत्ताओं ने रहस्यानुभूति को परमानन्द, ब्रह्मानन्द, ब्रह्मानुभूति आदि अनेक संज्ञाओं से अभिहित किया हैं । वाणी जहाँ से लौट आती है, मन जहाँ तक पहुँच नहीं पाता, वह आनन्दरूप ब्रह्म जो सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप है, उसे जो जान लेता है वह निर्भयता को प्राप्त करता है -

'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् । न विभेति कदाचनेति ।'[1]

रहस्यानुभूति का दिव्य रस है - 'परम रस' - रसो वै सः'[2] । परमानन्द की उच्चतम दशा को तैत्तिरिय उपनिषद् में 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्'[3] कहा गया है । एक मनुष्य आनन्द से लेकर सौ प्रजापतियों के आनन्द के बराबर एक ब्रह्मानन्द है -

''ते ये शतं प्रजापते आनन्दाः सः एक ब्रह्मण आनन्दः''[4] यही परम पद की रहस्यात्मक अनुभूति है ।

रहस्यवाद 'रहस्य' अर्थात् परम तत्त्व और 'वाद' अर्थात् विचार के इन दो शब्दों का मेल है । इस प्रकार रहस्यवाद - 'परम तत्त्व सम्बन्धी विचार' है। रहस्य शब्द 'रह् त्यागे' धातु से असुन् (सर्वधातुभ्योऽसुंन्) तथा यत् (दिगादिभ्यो यत्) प्रत्यय लगाने पर बनता है । अमरकोश में 'रहस्' का अर्थ विविक्त, विजन, रहः और एकान्त है । रहस्य का व्यावहारिक अर्थ तो एकान्त ही है । जिसका एक ही अन्त हो वही एकान्त है । मेदिनीकोश के अनुसार 'रहस्तेत्त्वे रमे गुह्ये' अर्थात् रहस् तत्त्व है - 'सार' । 'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि' द्वारा ब्रह्म को गुह्य बतलाया गया है । श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है- 'योगी एकान्त में (एकाकी) आत्मा को निरन्तर परमात्मा में लगाये' -

---

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचितात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥[५]

मौलाना अब्दुल कलाम आजाद के अनुसार इन्द्रियों से हम परम सत्य का सन्धान नहीं कर सकते । हमें विषयों को त्याग कर आन्तरिक अनुभूति का आस्वादन करना होगा । यही रहस्यवाद का मूलतत्त्व है । वास्तविक यथार्थ बाह्य जगत् कर आभास नहीं है । रहस्यवाद हमें विश्वातीत और विश्वात्मक दोनों का बोध करता है ।

प्रश्नवृत्ति अथवा जिज्ञासा धर्म, दर्शन, विज्ञान इत्यादि की ही नहीं अपितु रहस्यवाद की भी जननी है । 'क्वासि ?' अथवा 'कस्मै देवाय ?' का स्वर शाश्वत है । जब मानव असंख्य ज्योतिपुंजों (सूर्य, चन्द्र, शुक्र इत्यादि) से ज्योतिर्मय अनन्त आकाश का अनुशीलन करता है तब विशद जिज्ञासा उसे अलौकिक से संयुक्त किये बिना नहीं रहती । उसका मानस तरङ्गित हो उठता है । वह कौन सी अदृश्य किन्तु आभासगत पराशक्ति है, जो क्षितिज को, वनों को, जलाशयों को, उपत्यकाओं को, शस्यों को नाना रूपों में सजाती-सँवरती रहती है ? वह कौन सी अदृश्य किन्तु आभासगत पराशक्ति है, जो 'अहम्' और 'इदम्' को अनुस्यूत किये हुये है ? वह कौन सी अदृश्य किन्तु आभासगत पराशक्ति (सत्ता) है, जो प्राण में अनिर्वचनीय पुलक की सृष्टि करती है ? इत्यादि सभी प्रकार के प्रश्न या जिज्ञासाएँ एवं उनके समाधान की चेष्टा रहस्यवाद के अन्तर्गत आती है। डॉ. रामकुमार वर्मा के अनुसार "रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त एवं निश्चल सम्बन्ध जोडना चाहती है और यह सम्बन्ध इतना बढ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता ।[६]

महादेवी वर्मा द्वारा प्रस्तुत रहस्यवाद की परिभाषा से यह व्यञ्जित होता है कि 'असीम और ससीम' का मिलन ही रहस्यवाद है ।' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, भावना के क्षेत्र में वहीं रहस्यवाद है ।[७]

'रहस्यवाद' विषय पर अंग्रजी भाषा में विद्वानों ने पर्याप्त कार्य किया है, जिनमें मिस अण्डरहिल द्वारा दी गयी रहस्यवाद की परिभाषा के अनुसार 'सत्य की खोज' - 'परमात्मा की खोज' को ही रहस्यवाद का पर्याय माना जा सकता है । यह खोज चिरन्तन है -

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"Mysticism is seen to be a highly specialised form of that search for reality for heightened and completed life, which we have found to be a constant characteristic of human consciousness"[८]

वैदिक साहित्य का ज्ञानकाण्ड जो 'अध्यात्म' या 'अध्यात्मवाद' के नाम से हमारे देश में चिरकाल से प्रचलित था, वही यूरोपीय चिन्तन में मिस्टीक एवं मिस्टिसिज्म अर्थात् 'रहस्यवाद' है । यह शब्द भारतीय चिन्तकों के मध्य लगभग सौ वर्षों से प्रयुक्त किया जा रहा है, किन्तु यूरोपीय साहित्य एवं चिन्तन के रहस्यवाद पर वैदिक आध्यात्मिक चिन्तन किंवा रहस्यवाद का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है ।

श्री अरविन्द की दृष्टि में वेद का अर्थ रहस्यात्मक तथा निगूढ है। वेद में वे रहस्यमय वचन "निण्या वचंसि" (ऋ. ४/६/१६) हैं, जो पवित्रात्मा एवं अन्तर्चक्षु रखनेवाले महापुरुषों के लिए कहे गये हैं । महर्षि अरविन्द का विचार है कि वेद के रहस्यवादी ऋषियों ने अनधिकारियों से वेद की रक्षा के निमित्त इसके स्वरूप को जानबूझकर गुह्य बनाया था। भाषा की अपनी विशेष प्रकृति के कारण इन रहस्यवादियों को श्लेषमय वर्णनों के द्वारा सामान्य लौकिक वस्तुओं की आड में गूढ आध्यात्मिक रहस्य प्रकट करने की सुविधा प्राप्त थी ।

रहस्यवाद का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले जैकब दे मार्क्वे के मतानुसार पूरे विश्व में सबसे अधिक प्राचीन रहस्यवाद भारत का है । इन्होंने स्वीकार किया है कि मानव की चिन्तनपरक प्रतिभा इतिहास की प्रथम दशा भारत में पूर्णतया विकसित हो गयी थी । धातव्य है कि वेदाध्ययन करते समय वेदार्थ के आवरण (अवगुण्ठन) को सर्वप्रथम हटा देना अपरिहार्य है तभी आश्चर्यजनक तेजोमय दिव्य एवं अद्भुत रहस्य आविष्कृत हो सकते हैं । महर्षि अरविन्द द्वारा इंगित 'निण्य-वचन' उद्घोष करते हैं कि आवरण को हटाओ ।'निण्य' शब्द का वैदिक तात्पर्य है - रहस्य ।[९] एक ऋग्वैदिक मन्त्र में कहा गया है कि, 'वेद के ऋषि एक सहस्र सींगों वाले 'निण्य' के अन्दर रहने वाले मन की गहराई का दर्शन लेकर प्रवेश करते हैं ।[१०] यहाँ का मर्म शब्द है 'निण्य' । यह शब्द रहस्य को उद्घाटित करने में समर्थ है । यह चिन्तन की अतल गहराई में प्रविष्ट होकर किसी मायावगुण्ठन से आवृत्त महत् (परम) तत्त्व की प्रच्छन्न कान्ति की ओर इंगित करता प्रतीत होता है । इसी प्रकार का पथ-प्रदर्शन दूसरा शब्द है 'ऋत'।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसके प्रयोग से निगूढ मन के अन्तस्सानिध्य का अनुमान होता है । वेदार्थ के मध्य - हृद तक पहुँचने वाला एक अन्य शब्द है - 'अपगूरुहम्' जिसका अभिप्राय है - अत्यन्त गूढ । ऋग्वेद उस अत्यन्त गूढ ज्ञान की ही प्रशस्ति करता है ।

मानव अपनी शक्तियों में सर्वथा असाधारण होते हुए भी परमात्मा के विषय में सर्वज्ञ नहीं हो सकता। वह अनेकानेक रहस्यों को जान सकता है, किन्तु रहस्यों के रहस्य, प्रश्नों के प्रश्न, आदि रहस्य परमात्मा को नहीं - हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ इस सन्दर्भ में विवश हैं । परमात्मा विश्व का जटिलतम एवं गहनतम विषय है - 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नौ मनौ न वियो न विजानीमौ।'[११] उस तक हमारे नेत्र पहुँच नहीं सकते, वाणी के द्वारा उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता, अन्तःकरण उस तक पहुँच नहीं सकता, न हम उसे बुद्धि से जान सकते हैं और न ही दूसरे साधनों के द्वारा । रहस्यवाद में अद्वय की स्थिति का बहुत महत्त्व है । ब्रह्म और जीव की एकता ही रहस्यवाद की साधना का अन्तिम सोपान है, अन्तिम लक्ष्य है । अहं भाव का समग्र विस्मरण ही उस स्थिति को प्राप्त करा सकता है । रहस्य-स्थिति का अनन्द अनिर्वचनीय होता है । तैत्तिरीयोपनिषद्[१२] में आनन्द को ही ब्रह्म कहा गया है । जो सम्प्रश्न या प्रहेलिका है वह विश्व का महान् रहस्य है । वही इस प्रकार का तूर्ष्णीं या मौनभाव है, जिसमें सब शब्द अन्तर्लीन हो जाते हैं। मौन समुद्र के समान अगाध है । वाणी सरोवर के समान परिमित है । जो गुह्य सम्प्रश्न कोई एक मूल तत्त्व है वह अविज्ञात एवं अविज्ञेय है । ऋग्वेद में भी उस परम तत्त्व के वर्णनातीत स्वरूप की ही चर्चा की गयी है कि जिसने इन सबको जन्म दिया है उसे तुम नहीं जानते हो यद्यपि वह हम सबके भीतर है, किन्तु उसका कुछ और ही रूप दिखायी दे रहा है । उसके विषय में जितने वर्णन मिलते हैं, वह उतना ही नहीं है । आत्मदर्शन और आनन्द की स्थिति में तत्त्वदर्शी अनुभूत विषय के प्रति कुछ कह सकने की स्थिति में नहीं होता क्योंकि जो अनुभूत करता है वह व्यक्त नहीं कर सकता और जो व्यक्त करता है उसकी अनुभूति हो ही नहीं सकती - "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेध्या न बहुना श्रुतेन ।"[१४] परमात्मा के इस वर्णनातीत स्वरूप का वर्णन उपनिषदों में निषेधात्मक शब्दों द्वारा "नेति नेति" कहकर किया गया है ।[१५]

प्राचीन पाश्चात्य साहित्य में रहस्यवाद के दर्शन यत्र-तत्र ही होते हैं ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होमर स्पष्टतः बहुदेववादी हैं, रहस्यवादी नहीं । सैफो का रहस्यवाद विवादास्पद है और दान्ते का ईसाईधर्मबद्ध । किन्तु मध्यकालीन अंग्रजी साहित्य की कविता में रहस्यवाद की दृष्टि से जॉन डन, हरबर्ट क्रैशा, वान एवं ब्लेक प्रमुख हैं यद्यपि कवियों में जो रहस्यवाद प्राप्त होता है, वह अधिकांशतः या तो बौद्धिक व्यायाम का अंग है या कल्पना का ।

जॉन डन (१५७३-१६३१ इ.) की कविता में बुद्धिपरक रहस्यवाद के दर्शन तो होते हैं, किन्तु अनुभूतिपरक नहीं । Metaphysical (दार्शनिक) कवियों में प्रमुख हरबर्ट (१५९३-१६३३ ई.) की कविताएँ 'ईस्टर', 'एफ्लिक्शन' आदि कविताओं की भावना माधुर्यमूलक रहस्यवाद में स्थान पा सकती हैं । हेनरी वॉन (१६२२-१६९५ ई.) की कुछ कविताओं में रहस्यवाद दृष्टिगत है । 'कॉक क्रोइंग' शीर्षक कविता में जीवात्मा एवं परमात्मा के सम्बन्ध को स्तरीय ढंग से प्रस्तुत किया गया है, "ओ तुम अमर प्रकाश और ऊर्जा, जिसके हाथ इन क्रिया कलापों में चमकते हैं । .. यह देखकर कि तुम्हारा बीज मुझमें व्याप्त है, तुम मुझमें हो और मैं तुममें हूँ, हम यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि इसको किसने बनाया है" -

"O thou 'immortall' light and heat
Whose land so shines through all this frame,
That by the beauty of the seat,
We plainly see who made the same.
Seeing thy sead abides in me,
Dwell thou in me, and I in thee.

— The Metaphysical Poets,
'Cock Crowing', p. 278.

हेनरी जॉन का जीवात्मा एवं परमात्मा सम्बन्धी यह विचार ऋग्वेद के अष्टम मण्डल की इन ऋचाओं से कितना प्रभावित परिलक्षित होता है जब वैदिक उपासक (जीवात्मा) चैतन्य ब्रह्म (परमात्मा) से तादात्म्य हेतु व्याकुल दिखलायी देता है - " हे अग्ने,[१६] मैं मर्त्य हूँ और तुम अमर दीप्ति वाले अमर्त्य (IMMORTAL से तुलनीय), मैं और तुम एक हो जायें ।"[१७] अन्यत्र भी कामना की गयी है - "हे अग्ने, यदि मैं तू हो जाऊँ और तू मैं हो जाय तो तेरा आशीर्वाद सत्य सिद्ध हो जाय ।"[१८] यहाँ जिस अग्नि को सम्बोधित किया गया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, वह स्थूल अग्नि न होकर अग्नि का सूक्ष्मरूप है, जो ब्रह्मस्वरूप है, क्योंकि कोई भी उपासक जो चेतन है, स्थूल अग्नि से मिलने की बात नहीं कर सकता। वस्तुतः जीव चैतन्य का ही एक अंश है, वह परम प्रकाश का स्फुलिङ्ग है ।

क्रैशा (१६१२-१६४९ ई.) के काव्य-संग्रह 'स्टेप्स टू द टेम्पल' में यद्यपि कुछ रहस्यवादी कवितायें मिलती हैं, किन्तु उनकी रुचि को रहस्यवादोन्मुख नहीं कहा जा सकता ।

विलियम ब्लेक (१७७५-१८२७ ई.) प्रकृत्या रहस्यवादी थे । इन्होंने परवर्ती कवियों विशेषतः महाकवि वड्र्सवर्थ को प्रभावित किया, इस दृष्टि से इनका व्यापक महत्त्व है । ब्लेक ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'ऑगरीज ऑफ इन्नोसेंस' में लिखा है, "बालू के कण में विराट् को देखो, वन में स्वर्ग के दर्शन करो, अपनी हथेली में अनन्त को धारण करो और चिरन्तनता एक घण्टे में आ जायेगी" -

"To see a World in a Grain of Sand
And a Heaven in a Wild Flower.
Hold Infinity in the palm of your hand
And eternity in an hour."[११]

यहाँ William Blake के विचारों पर वैदिक चिन्तन का प्रभाव स्पष्टतः रेखाङ्कित किया जा सकता है, जिसका मूल सिद्धान्त है कि "एक ही ब्रह्म सारे विश्व में व्याप्त है अथवा सारा विश्व ही ब्रह्मरूप है -

"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति ॥" ऋ. १०.९०.२
"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" - छान्दोग्योपनिषद्, ३.१४.१
"पुरुष एवेदं विश्वम्" - मुण्डकोपनिषद्, २.१
अखण्ड ब्रह्मसत्तातिरिक्त अन्य कोई भी सत्ता नहीं है ।

"ब्रह्म वं ब्रह्म उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।" (तैत्तिरिय ब्राह्मण, २.८.९.६) । वन के पुष्प में स्वर्ग के दर्शन तथा बालू के कण में विराट् को देखने की भावना स्पष्टतः वैदिक चिन्तन की ऋणी है ।

आधुनिक पाश्चात्य कविता में विलियम वड्र्सवर्थ (१७७०-१८५०) का एक विशिष्ट स्थान है । कोलरिज के साथ वड्र्सवर्थ ने आङ्ग्ल साहित्य में जिस स्वच्छंदवादी युग का आरम्भ किया उसका एक विशिष्ट तत्त्व रहस्यवाद भी था।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वड्र्सवर्थ, कोलरिज, शेले आदि कवियों के रहस्यवादी स्वर बडे प्रभावोत्पादक हैं, जिनपर वैदिक रहस्यवाद का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पडा ।

वड्र्सवर्थ के सर्वश्रेष्ठ गीत "Ode on Intimation of Immortality from recollection of early childhood" में रहस्यवाद के उच्चस्तरीय दर्शन होते हैं :

"Our birth is but a sleep and forgetting;
The Soul that rises with us, Our Life's star,
Hath had elsewhere its setting,
And cometh for afar;
Not in entire forgetfulness,
....
But trailing clouds of glory do we come
From God, who is our home;[२०]

यहाँ पर दो महत्त्वपूर्ण बातें ध्यातव्य हैं - प्रथम कवि के अनुसार 'हमारा जन्म (जीवन) एक निद्रा है तथा यहाँ आकर हम उस आत्मतत्त्व (परब्रह्म, मूल परमात्म-तत्त्व), जो हमारे जीवन का तारा है, जो कहीं और से (परम सत्ता द्वारा) संचालित है, उसे भूल जाते हैं (ब्रह्म की माया शक्ति[२१] के कारण), द्वितीय - परमात्मा हमारा शाश्वत आवास[२२] है - सर्वभूताधिवास'[२३] जीवन का उद्गम दूर से बतलाना रहस्यवाद ही है जैसे-जैसे जीवात्मा इस विश्व में लिप्त होता है, वैसे-वैसे कारागार (माया) का पाश कसता जाता है -

"Shedes of the prison-house begin to close
Upon the growing boy."[२४]

वड्र्सवर्थ की Tintern Abbey (टिन्टर्न एबि) तथा Prelude (प्रिल्यूड) शीर्षक कविताएँ रहस्यवादी हैं । 'टिन्टर्न एबि' कविता का यह अंश द्रष्टव्य है जब कवि प्रकृति के हर एक अंग में एक अदृश्य शक्ति का अनुभव करता है । यह शक्ति समस्त दृश्यमान वस्तुओं - सागर, वायु, आकाश, अस्ताचल को जाते हुए सूर्य के प्रकाश, मनुष्य की चेतना आदि में व्याप्त है -

"..... And I have felt
A presence that disturbs me with the joy
Of elevated thoughts; a sense sublime

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Of somethiong far more deeply interfused,
Whose dwelling is the light of setting Sins,
....
A motion, and a spirit, that impels
All thinking things....
And rolls through all things."[२५]

वड्र्सवर्थ जिस अदृश्य शक्ति का अनुभव करते हैं वह शक्ति वैदिक चिन्तन का ब्रह्मतत्त्व है जिसे उसके भिन्न-भिन्न कार्यों के कारण कभी अग्नि, कभी इन्द्र, कभी वाक्,[२६] प्रजापति, विश्वदेवा, मरुत्, रुद्र, तो कहीं स्कंम्भ, ज्येष्ठ, विश्वकर्मा या पुरुष के नाम से सम्बोधित किया गया है । इस सन्दर्भ में सायण का भी यही अभिमत है -

"स च जातः सन् भूतस्य सत्त या प्रतिभासमानस्य प्रपञ्च एकः असाधाणः पतिः ईश्वरः आसीत्" (सायणभाष्य, अथर्ववेद, ४.२.७) । समस्त चराचर जगत् में वही एक तत्त्व व्याप्त है - "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" (श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६.११)।

कोलरिज (१७७२-१८३४) के अनुसार सर्वाधिक महान् वस्तु जो हम प्राप्त कर सकते हैं, वह है कि हम स्वयं को जानें। हम यह जानें कि हम आश्चर्यजनक समग्रत्व के भाग हैं । स्वयं को जानने के लिए हमें उस विराट् आश्चर्य से युक्त परमात्मा का अंश बनना पडता है ..... हमें उस प्रेमपुष्प परमात्मा से प्रेम करना पडता है । यह माधुर्यभावगत रहस्यवाद की स्थिति मानी जा सकती है । रहस्य की चरम स्थिति का वर्णन करते हुये कोलरिज कहते हैं - "एकमात्र ईश्वर का ध्यान करो, उसे जानो,[२७] उसे अनुभव करो ... जब समग्र अहं का विस्मरण हो जायेगा, तब ईश्वर की पहचान हो जायेगी । बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ऋषि मैत्रैयी से कहते हैं, "परमात्म-तत्त्व का दर्शन, श्रवण, चिन्तन एवं ध्यान से सर्वज्ञता की स्थिति आ जाती है" -

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्वा विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ।"[२८]

कोलरिज की कविता में तथा उपनिषद् के उपर्युक्त वाक्य "आत्मा (ब्रह्म) ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, चिन्तनीय एवं ध्यातव्य है" में निहित रहस्य सहज ही तुलनीय है ।

इसी एक (परम) तत्त्व की प्रतीति एवं इस तक पहुँचने की दुर्दमनीय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अभिलाषा कोलरिज के अन्तर में व्याप्त थी । इन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है, "छोटी-छोटी वस्तुओं के विराट् भण्डार से परिपूर्ण यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड किसी एक महान्, अविभाज्य और अद्वयसम्पन्न तत्त्व को जानने के लिए झुकता है ।"[२९]

आङ्ग्ल साहित्य के सर्वश्रेष्ठ गीतकार Shelley (शेली) ने अपने प्रसिद्ध Elegy 'शोकगीत' "Adonais" (एडोनेस) में उच्च कोटि के रहस्यवाद का प्रयोग किया है । कीट्स (Keats) में इस असमय अवसान पर लिखे गये इस (शोकगीत) में इस चिन्तक कवि ने आत्मा की अमरता, जीवात्मा एवं परमात्मा के एकत्व तथा सम्पूर्ण जीव-जगत् में व्याप्त ब्रह्मतत्त्व (विराट् सत्ता) का जिस प्रकार अनुभव किया है उस पर वैदिक प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है । Shelley आत्मा की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार करते हैं - ".... मृत्यु मृत हुई है, कीट्स (जीवात्मा) नहीं । .... वह तो प्रकृति मे लीन हो गया । ... उस प्रकृति ने (ब्रह्मतत्त्व) ने अपनी सन्तान को स्वयं में आत्मसात कर लिया है, जो इस विश्व में अथक तथा अकपट प्यार उडेलती रहती है, जो इसे नीचे से पालती है (अर्थात् धरती पर) तथा ऊपर से (आकाश द्वारा) प्रकाशित करती है -

"He is made one with Nature
+ + + + +
+ + + + +
Which has withdrawn his being to its own.
+ + + + +
Sustains it from beneth, and kindles it above."[३०]

यदि हम वैदिक दर्शन के परिप्रेक्ष्य में महाकवि शेली के उपर्युक्त विचार की समीक्षा करें तो साम्यता स्पष्टतः परिलक्षित होती है। तैत्तिरिय उपनिषद् में स्पष्ट उल्लेख है कि सभी वस्तुएँ परम तत्त्व से उत्पन्न हुईं और पुनः उसी तत्त्व में समाहित होती हैं -

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति
यत् प्रयन्त्यभिविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति ॥"[३१]
"परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्"[३२]

परमात्मा तेजोमय, आनन्दस्वरूप एवं प्रकाशस्वरूप है इसका उल्लेख वेदोंमें जिस प्रकार किया गया है वह शेली द्वारा वर्णित 'Kindles it above'[३३] (वह तत्त्व जो विश्व को प्रकाशित करता है) से स्पष्टतया तुलनीय है -

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"यदेकं ज्योतिर्बहुधा विभाति"[३४]
"शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि"[३५]
"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"[३६]

सामवेद में भी उसे 'परम ज्योति'[३७] कहा गया है । छान्दोग्य उपनिषद् कहता है 'प्रकाश उसका रूप है, सत्य उसका संकल्प' - "भारूपः सत्यसङ्कल्पः" ।[३८] बृहदारण्यक उपनिषद् में उसे "ज्योतिषां ज्योतिः" कहा गया है ।

"The One remains, the many change and pass;
Heaven light forever shines, earth is shadows fly;"[३९]

"इस क्षणभंगुर विश्व में केवल एक[४०] (परमात्मा) रहता है, बहुत (समस्त जड चेतन) परिवर्तित हो जाते हैं और समाप्त हो जाते हैं । स्वर्ग (परमात्मा) का प्रकाश यहाँ पर सदा दैदीप्यमान रहता है किन्तु पृथ्वी की छायाएँ उड जाती हैं ।" शेली को परमात्मा के विविध रूप प्रकृति[४१] में दिखलाई देते हैं ।[४२] वेदों में अनेकशः यह उल्लेख प्राप्त होता है कि संसार में जो विद्यमान् अविद्यमान् वस्तुएँ हैं वे सभी ब्रह्म के ही विविध रूप हैं ।

Tennyson (टेनिसन) (१८०९-१८९२ ई.) यद्यपि प्रमुखः रहस्यवादी कवि नहीं हैं, तथापि उनकी कुछ कविताओं में रहस्यवाद दिखलाई देता है । "The Crossing Bar" शीर्षक कविता में कवि कहता है, "सूर्यास्त हुआ और सान्ध्यतारा का आगमन हुआ और मुझको एक स्पष्ट आवाज सुनाई पडने लगी । जब मैं समुद्र में लीन होने का प्रयत्न करूँगा, सम्भवतः सेतु पर विषाद का कोई चिह्न नहीं होगा । .... जब बाढ मुझको अपने गन्तव्य स्थान में ले जायेगी, तब मैं ..... चालक को अपने समक्ष देख सकूँगा -

"Sunset and Evening star
And one clear call for me
+ + + + +
+ + + + +
I hope to see my pilot from face to face
When I have Crest the Bar.

— The Oxford Book of English Verse,
The Crossing Bar, p. 718

सूर्यास्त जीवन की सान्ध्यबेला के आगमन का प्रतीक सान्ध्यतारा निशा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के आगमन का द्योतक है । निशा अवसान की सूचिका है । 'स्पष्ट आवाज' (Clear Call)[४३] से यह व्यञ्जना निकलती है कि 'उस लोक के सन्देश स्पष्ट अनुभूत होने लगे हैं ।' कवि का जीवन्त सन्देश है कि उसके अवसान से दुःख का वातावरण नहीं बनना चाहिये क्योंकि वह संसाररूपी समुद्र[४४] को पार करने के पश्चात् ही चालक–जड-चेतन के स्वामी परमात्मा से–मिल सकता है । टेनीसन के कविता की इन पंक्तियों की ऋग्वेद के इस मन्त्र के भाव से कितनी साम्यता है - "विद्वानों ने मन में विचार कर मानस-चक्षु से देखा कि एक पतङ्ग (जीवात्मा) को आसुरी माया आक्रान्त किये हुये है । समुद्रवत् परमात्मा के मध्य में ही जीवात्मा की स्थिति होती है । परमात्मा का धाम आलोकमय है, वहाँ जाने पर ही जीव को मुक्ति प्राप्त होती है -

"पतङ्गमुक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः
समुद्रे अन्तः कवयो विचक्षते महीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः ॥[४५]

रहस्यवादी कवियों में इमिली ब्रॉण्टे (१८१८-१८४८ ई.) का प्रमुख स्थान है । "वुदरिंग हाइट्स" उपन्यास की लेखिका के रूप में प्रख्यात इनकी कविताओं में 'The Prisoner' तथा 'Last Lines' बहुत प्रसिद्ध हैं । 'लास्ट लाइन्स' शीर्षक कविता में परमात्मा की विराटता का गान हुआ है । कवियित्री के शब्दों में, 'हे परमात्मा, आप मुझमें समाहित हैं । सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी देवता, जीवन जो मुझमें है, वह आपके ही कारण है । मेरे अनश्वर जीवन की शक्ति आप में ही है ।[४६] उपनिषदों का भी यही विचार है कि जो नित्यतत्त्व पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में एकरस विद्यमान् है । उसकी अतर्क्य माया से विमोहित जीव अपने को शरीरी एवं संसारी मानकर शुभाशुभ कर्मों को भोगता हुआ संसाररूपी ब्रह्म-चक्र में आवागमन करता है । जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब वह सभी भूतों को स्वयं में एवं समस्त भूतों में स्वयं को देखता है ।[४७] तब वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ।[४८] इसी अवस्था को प्राप्त हुए त्रिशंकु ऋषि कह उठते हैं, "अहं वृक्षस्य रेरिव"[४९] अर्थात् आत्मज्ञान हो जाने पर उन्हें अनुभव हुआ कि "मैं वृक्ष को हिलाने वाला हूँ ।" यहाँ वृक्ष का अर्थ देहवृक्ष अथवा ब्रह्माण्डवृक्ष भी हो सकता है । सर्वविदित है कि उपनिषद् व तदुत्तरकालीन ग्रन्थकार देह को एवं विश्व को वृक्ष की उपमा दिया करते थे । आगे त्रिशङ्कु ऋषि कहते हैं ".. मेरी कीर्ति पर्वतशिखर के समान है ।"[५०] आत्मानुभव की उच्च दशा में उन्हें अनुभव हुआ कि 'मैं शिखर के समान इन सब दृश्यमान्

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वस्तुओं से अलिप्त एवं उन्नत हूँ ।' इसी उपनिषद् में ध्यान की उन्मन अवस्था में ऋषि के उद्गार कितने उदात्त एवं गम्भीर हैं - 'इस जगत् में मेरे अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है' आश्चर्य है 'मैं ही अन्न हूँ तथा मैं ही अन्न खानेवाला हूँ' –

''अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहम् अन्नादो ऽहमन्नोदोऽहमन्नादः ।''[५१]

इमिली ब्रॉण्टे आगे कहती हैं – ''(हे परमात्मा) .... आप संसार को परिवर्तित करते हैं, और उसका पालन करते हैं, उसे नष्ट करते हैं, उत्पन्न करते हैं और उसका संवर्धन करते हैं – "Changes, sustains, dissolves, creates and rears."[५२] इसी कविता के आगे के अंशों में कवियित्री ने सृष्टि के पूर्व (प्रलयावस्था) का वर्णन जिस प्रकार किया है, उस प्रकार का उल्लेख ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध नासदीय सूक्त में स्पष्टतया वर्णित है । दोनों की तुलना करने पर अद्भुत साम्यता दिखलायी देती है । इमिली ब्रॉण्टे कहती हैं –

"Though earth and man were gone
And suns and universes ceased to be,
And thou were left alone[५३]
Every existence would exist in Thee .... [५४]

नासदीय सूक्त में भी सृष्टि से पूर्व प्रलय दशा की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस समय न सत् था, न असत् ही । पृथ्वी से लेकर पातालपर्यन्त लोक नहीं थे । न ही आकाश था और न उसके ऊपर द्युलोक।[५५] उस समय मृत्यु भी नहीं थी, अतः अमरत्व का भाव भी नहीं था ।[५६] उस अवस्था में सम्पूर्ण जड-चेतन उसी एक तत्त्व (परब्रह्म) में विलीन था । ब्रह्माण्ड की कोई भी वस्तु दृश्यमान् नहीं थी । उस समय केवल एक ही तत्त्व (परम तत्त्व), जो समस्त पदार्थों की अपेक्षा विलक्षण था, अपनी शक्ति से (स्वधया) स्वतः स्फुरित था ।[५७] इमिली ब्रॉण्टे भी कहती हैं – 'पृथ्वी, मनुष्य, सूर्य एवं ब्रह्माण्ड आदि का अस्तित्व समाप्त हो चुका था, तथापि आप (इस जगत् में) एकमात्र शेष थे ।[५८] इसी कारण प्रत्येक अंश आपमें अस्तित्व प्राप्त करता है, (उस समय) मृत्यु का कोई अस्तित्व नहीं था ।[५९]

एलिस मीनेल (१८५०-१९२२ ई.) परब्रह्म परमेश्वर के असंख्य रूप इस विशाल ब्रह्माण्ड में देखती हैं । वे अपनी आत्मा को परमात्मा के लक्ष (असंख्य) रूपों को देखने के लिए प्रेरित करती हैं –

"O be prepared, My Soul,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

..........................., to seen
The million forms of God ....."[६०]

ठीक इसी प्रकार ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में परब्रह्म के असंख्य रूपों का उल्लेख प्राप्त होता है –

"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् "[६१]

केवेण्ट्री पेटमोर (१८२३-१८९६ ई.) के अनुसार सच्चे कवि का रहस्यवादी होना आवश्यक है । रहस्यवादी की भाँति एक कवि भी, जड-चेतन तथा मर्त्य-अमर्त्य के मध्य समानता प्रतिपादित करता है । पेटमोर कहते हैं –

"God is the only reality and we are real only as far as we are in His order and He is in us."[६२]

पेटमोर की ये पंक्तियाँ आचार्य शङ्कर के अद्वैतवादी दर्शन "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः"[६३] से सर्वथा तुलनीय हैं।

आधुनिक कविता के प्रतिनिधि कवि Whitman का रहस्यवाद वैदिक दर्शन से पर्याप्त प्रभावित दिखलाई देता है । "On the Beach At Night" नामक कविता में इन्होंने रात्रि में पिता एवं पुत्र के मध्य संवाद के माध्यम से जिस प्रकार परमात्मा के अस्तित्व एवं उसकी शक्ति का प्रभावशाली वर्णन किया है उसे देखकर छान्दोग्य उपनिषद् के छठें अध्याय के आठ से सोलह तक के नौ खण्डों में पिता आरुणि द्वारा पुत्र श्वेतकेतु[६४] को दिये जाने वाले ब्रह्मोपदेश का स्मरण होता है । Whitman के अनुसार पिता पुत्र से कहता है, "... ये काले बादल कभी विजयी नहीं हो पायेंगे .... तू धैर्य रख ... बृहत् अमर सूर्य तथा दीर्घजीवी चन्द्र पुनर्दीप्त होंगे .... कोई न कोई वस्तु ऐसी है ... कोई न कोई वस्तु तारों से भी अधिक अमर है, एक ऐसी भी वस्तु है जो बृहस्पति, सूर्य या अन्य ... से अधिक दीर्घजीवी है और जो उसके बाद भी रहेगी" ।[६५] यहाँ पर बालक्र जीवात्मा का प्रतीक है, पिता गुरु का प्रतीक है, जो परमात्मा के स्वरूप की व्याख्या करना चाहता है ।[६६] सम्पूर्ण ग्रह, नक्षत्र, पृथ्वी, व्यक्ति आदि परमात्मा की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। जब मृत्यु के काले बादल[६७] इन ग्रहों, पृथ्वी तथा व्यक्ति (सम्पूर्ण सृष्टि) को समाप्त कर देते हैं, तब भी आत्मा का वर्चस्व रहता है । जीव नाशवान् है, आत्मा अमर है ।[६८]

व्हिटमैन की 'रेस ऑफ ब्रह्म' कविता भी रहस्यवादी है । पृथ्वी की वनस्पतियों पर देवत्व का आरोप रहस्यवाद में अन्तर्भूत किया जा सकता है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वॉल्ट व्हिटमैन सम्भवतः भारतीय किंवा वैदिक रहस्यवाद से प्रभावित होकर ही रमणीय रहस्य की दुनिया में विचरण करते हुए ब्रह्म की जाति के आगमन सम्बन्धी अपने उद्‌गार व्यक्त करते हैं –

"भाषाओं का घर, कविताओं का संप्रेरक, ... गम्भीर, विचारों से शान्त .... प्रसन्नतावादी नेत्रों से युक्त जननी आती है । ब्रह्म की जाति आती है ।"[६९]

अमेरिका के कवियों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाली कवयित्री इमिली डिकिन्सन (Emily Dickinson) का महत्त्वपूर्ण स्थान है । इनके रहस्यवादी बनने की सर्वाधिक आवश्यक परिस्थिति–प्रेम में निराशा–मिली थी । लौकिक प्रेमजन्य निराशा को उन्होंने परमात्मा के प्रति प्रेम में व्यक्त किया है । इमिली डिकिन्सन की कुछ कवितायें ऐसी हैं जिनकी रहस्यवादी व्याख्या ही की जा सकती है । "The Soul's Superior Instants" नामक कविता में दिव्यानन्द के क्षणों को अभिव्यक्त किया गया है । .... चिर के तत्त्व ईश्वर के केवल कुछ चुने हुये लोगों को मिलते हैं –

"........ Eternity's disclosure
To favourites - a few
Of the Collossal substance
Of Immortality."[७०]

'द वेस्ट लैण्ड' (The Waste Land) के अमर रचयिता बीसवीं सदी के सम्भवतः सर्वाधिक चर्चित एवं विवादास्पद कवि T.S. Eliot (टी. एस. इलियट) की अनेकानेक कविताएँ रहस्यवाद की दृष्टि से अतीव सार्थक हैं । 'जेरोन्शन', 'जर्नी ऑफ द मैजाइ', 'हालोमेन' आदि में रहस्यवादी कल्पना है । 'द बेस्ट लैण्ड' में कवि भारतीय उपनिषद् एवं दर्शन से पूर्णतः प्रभावित दिखलाई देता है। इस कविता में अनेक स्थलों पर ऐसा स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि कवि रुखे भौतिकतावाद से ऊब गया है और निष्काम मानवप्रेम एवं ईश्वर-प्रेम रूपी जल के लिए व्याकुल है, जो उसकी आत्मा की प्यास बुझा सके –

"If there were water
And no rock
If there were rock
And also water
And water

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

A spring
A pool among the rock
If there were the sound of water only....."[७१]

इलियट टायरेसियस की भाषा से छुटकारा पा लेता है, तथा आध्यात्मिक पतन की वर्तमान स्थिति में अपने जीवन के लिए आध्यात्मिक मार्ग तलाश रहा है । सांसारिक सुखों एवं भौतिकवादी सिद्धान्तों को ठुकरा कर वह अपनी आध्यात्मिक व्यवस्था को ठीक रखने की कोशिश करता है । इस कविता में द, द, द = Da (Da = Datta, that is, charity) Da - (The second Da = Dayadhvam, that is compassion, sympathy), Da (The third 'Da' stands for 'Damyata', which means self-control)[७२]

यहाँ पर द (दत्त = दानशीलता), द (दयाद्ध्वम् = दया), द (दम्यता = शरीर, मस्तिष्क एवं इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण) – ये तीन द का प्रयोग पूर्णतः ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों का ऋणी है । यहाँ कवि पूर्णरूपेण वैदिक दर्शन एवं रहस्यवाद को ही प्रतिबिम्बित कर रहा है। सांसारिक भोगविलास में लिप्त व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए टामरेसिएट के मुख से कवि अपना चिन्तन व्यक्त करते हुए कहता है कि 'आप लोग अपने शरीर रूपी जलयानों को संसार-सागर में आगे बढा रहे हैं, आप लोग वृद्धावस्था की दिशा में भी देख रहे हैं, किन्तु भविष्य की दिशा ही वह दिशा है, जिधर से मृत्युरूपी तूफान आता है । मृत्यु के समय आत्मा के साथ आध्यात्मिक गुण ही जाते हैं, एकत्र किया हुआ धन-दौलत नहीं – "Evidendly the theme of the poem is something like this : Materialism has made men and women sensual and mad for sensual pleasures, worldly riches and weath. So the modern materialistic world is a waste land for the soul. The three gates to man's salvation are Datta, Dayadhvam and Damyata"[७३]

टी. एस. इलियट के साथ-साथ बीसवीं शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ अंग्रेजी कवि W.B. Yeats पर भी वैदिक रहस्यवाद का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है । Yeats चिन्तक भी थे । चिन्तक होने के कारण यह जानते थे कि मानवीय अस्तित्व की समस्यायें केवल विज्ञान द्वारा नहीं सुलझाई जा सकतीं । १९२८

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इ. में प्रकाशित 'टॉवर' शीर्षक कविता-संग्रह में Yeats की अनेक कविताएँ संगृहीत हैं । इनमें सम्भवतः सर्वाधिक जटिल एवं आकर्षक कविता 'सेलिंग टू बाइजेण्टियम' है, यहाँ पर Yeats ने बाइजेण्टियम को एक प्रतीक बनाया है । इस कविता से ध्वनित होता है कि जीवात्मा और परमात्मा के मध्य एकत्व के प्रयत्न में सांसारिक इच्छायें एवं आकर्षण आतीं हैं, किन्तु जीवात्मा इन्हें नकार का तथा इन पर अधिकार कर परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करने में सक्षम होती है । कवि स्पष्टतया कहता है कि 'ईश्वर से तादात्म्य हो जाने पर आत्मा को मृत्यु के पश्चात् इस धरा पर नहीं आना पडता है' –

" ... This soul after death will not take bodily form."[७४]

'रवीन्द्र नाथ टैगोर' के निकट होने के कारण Yeats उनसे भी प्रभावित रहे होंगे । रहस्यवाद में अद्वय की स्थिति का बहुत महत्त्व है । ब्रह्म एवं जीव की एकता ही रहस्यवाद की साधना का अन्तिम सोपान है, अन्तिम लक्ष्य है । अहंभाव का समग्र विस्मरण ही अद्वैत की स्थिति है और उस स्थिति में जीव परमात्मा में उसी प्रकार विलीन हो जाता है जैसे सागर में नदियाँ –

"यथा नद्यस्यन्दमानाः समुद्रेस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" ॥[७५]

अमेरिका के नये कवियों में 'स्वेन्सन' रहस्यवादी कहे जा सकते हैं । उनकी एक कविता 'ब्रह्माण्ड' इस दृष्टि से पठनीय है – "क्या, यह किसके बारे में है, ब्रह्माण्ड, ब्रह्माण्ड के बारे में, जो हमें खींच रहा है" –

"What
Is it about the universe, the universe about
Us stretching us out ?"[७६]

कवि आगे कहता है, "..... ब्रह्माण्ड का कोई न कोई कारण तो होना ही चाहिए? इसके अपने कुछ नियम होने चाहिए ? ..... यह ब्रह्माण्ड किसके लिए है और हम किसके लिए हैं " –

"...... must there be cause in the universe ?
Must it have laws ? ....
.... then what ? what
Is it about
And what about ?"[७७]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सृष्टि सम्बन्धी ऐसे उद्गार वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर प्राप्त होते हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि 'स्वेन्सन' के साहित्य पर वैदिक रहस्यवादी दर्शन का अत्यधिक प्रभाव पडा है –

'कासीत् प्रभा ? प्रतिमा ? किं निदानम् ?[७८]

अर्थात् सृष्टि क्यों ? इसकी प्रभा क्या है ? किस प्रतिमा को लेकर सृष्टिकर्ता ने इसका सूत्रपात किया ? इसका निदान या मूल कारण क्या है ? कहाँ से यह निकल पडी ? नासदीय सूक्त में भी इसी प्रकार की जिज्ञासाएँ व्यक्त की गयी हैं - 'कुतः इयं विसृष्टिः ?

अर्थात् यह संसार किससे और कहाँ से आया ? स्वेन्सन ने अपने निबन्ध 'The Experience of Poetry in a Scientific Age' में अमेरिका के एक पुराने कवि एडवर्ड टायटलर की कविता को उद्धृत करते हुए कहा है- "अनन्त जब सारी वस्तुएँ देखता था, जब कुछ नहीं था, तब कुछ नहीं से उसने सारी वस्तुयें, सारी सृष्टि का निर्माण कर दिया" ।[८०] ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में भी यही बात कही गयी है, "सृष्टि के आरम्भ में वही एक तत्त्व (पर ब्रह्म) अपनी स्वधा से श्वास-प्रश्वास लेता उसके अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व विद्यमान नहीं था" ।[८१] 'स्वेन्सन' अपनी कविता में आगे कहते हैं, 'तब उसने (अनन्त परम तत्त्व) लकडी की पट्टियाँ लगा कर आधार बनाया, जिससे यह भूमण्डल बस गया ... किसने विशाल भट्टी को जलाया था, किसने ऐसा साँचा बनाया, जिसमें विश्व ढल गया, किसने नींव का पत्थर रखा ? किसकी आज्ञा से यह रखा गया? ये स्तंभ कहाँ लगे हैं ? ये स्तम्भ किन पर टिके हैं ? किसने पृथ्वी को नदियों आदि के कारण इतना सुन्दर बना दिया .... कौन शीशे की गेंद में सूर्य को नियन्त्रित कर रहा है ? .... कौन-कौन यह कार्य कर रहा है? वह कौन है ? .... यह वही सर्वशक्तिमान् एकमात्र परमात्रा है जो कार्य कर रहा है-

"Upon what Base was fix the Lath, wherein ?
.... the World was cast ?
Who laid its corner stone ? Or whose command?
Where stand the pillars upon which it stands ?
....
Who made the Sea's its selvedge, and it looks
Who ? Who did this ? Or who is he ? Why know
It is only might Almighty this did doe."[८२]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैदिक साहित्य का अनुशीलन करने से स्पष्ट होता है कि स्वेन्सन के उपर्युक्त विचारों पर वैदिक चिनन्त का स्पष्ट प्रभाव पडा है । जिस प्रकार स्वेन्सन सृष्टि सम्बन्धी प्रश्न करते हैं ठीक उसी प्रकार वैदिक साहित्य में भी प्रश्नात्मक शैली में सृष्टि की उत्पत्तिविषयक चर्चा की गयी है –

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस मतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥[८३]
ब्रह्म वनं ब्रह्म उ स वृक्ष आसीत् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥[८४]
को अद्धा वेद क ह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ॥[८५]
"सोऽकामयत् बहुस्यां प्रजायेय इति"
"तद् ऐक्षत् बहुस्यां प्रजायेय इति"[८६]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य चिन्मय विश्वशक्ति का शब्दरूप विग्रह है । वैदिक रहस्यवाद, जो आत्मा एवं परमात्मा के मध्य तादात्म्य को अभिव्यक्त करता है, का पाश्चात्य साहित्य पर इतना अधिक प्रभाव पडा है कि यदि यह कहा जाये कि पश्चिमी साहित्य-जगत् वेदों का ऋणी है, तो कोई अत्युक्ति न होगी ।

डॉ. अर्चना श्रीवास्तवा
प्रवक्ता,
संस्कृत महिला महाविद्यालय (परा०)
किदवईनगर, कानपुर

टिप्पणियाँ

१. तैत्तिरीयोपनिषद्, २.९
२. तैत्तिरीयोपनिषद्, २.७.१
३. तैत्तिरीयोपनिषद्, ३.६.१
४. तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली, अष्टम अनुवाक्
५. श्रीमद्भगवद्गीता, ६.१०
६. कबीर का रहस्यवाद, पृ. ५
७. चिन्तामणि, द्वितीय भाग, पृ. १०४
८. Mysticism, p. 93
९. द्रष्टव्यः 'तत्त्वमसि', उपनिषद् का सन्देश, पादटिप्पणि, पृ. १३५
१०. "त इन्निण्यं हृदयस्य प्रकेतैः सहस्रवल्शमभि सं चरन्ति ।", ऋग्वेद, ७.३३.९
११. केनोपनिषद्, १.३
१२. "आनन्दो ब्रह्मेति", तैत्तिरीयोपनिषद्, ३.६.१
१३. न तं विदाथ य इमा जजनाऽन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चाऽसुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥ ऋ. १०.८२.७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१४. कठोपनिषद्, १.२.२३

१५. "..... स एष नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गे न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विज्ञानीमात् ।"
- बृहदारण्यक उपनिषद्, ४.५.१५

१६. वेदों में स्पष्ट रूप से ब्रह्म को अग्नि कहा गया है -
"सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः ।" अथर्व. १३.४.४

१७. यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं अमर्त्यः
सहसः सूनवाहुत ॥ ऋग्वेद, ८.१९.२५

१८. यदग्ने स्यामहं त्वं वाद्यास्या अहम् ।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥ ऋग्वेद, ८.४४.२३

१९. Encyclopaedia Americana, p. 750

२०. Golden Treasury, p. 287

२१. तुलनीय - वेदान्तसार, १६

२२. ".... From God, who is our home" - Golden Treasury, p.287

२३. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६.११

२४. Golden Treasury, p. 287

२५. Poems of Wordworth, Tintern Abbey, p.105

२६. (१) अहं रुद्रेभर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रायरुणोभा विभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥
ऋ. १०.१२५.१

(२) अहं पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्सवन्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वेतामू द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि ॥
ऋ. १०.१२५.७

२७. And central there
God only to behold and know and feel
Fill by exclusiveness, Consciousness of God
All self annihilated it shall make
God its identity; God all-in-all.
Poems of Coleridge, Religious Musings, p. 15

२८. बृहदारण्यक उपनिषद्, २.४.५

२९. "..... The Universe itself, what but an immense of little things - My mind feels as if it ached to behold and know something great, something one and indivisible." - Biographia Literaria, p. 7

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३०. Adonais, p. 59
३१. तैत्तिरियोपनिषद्, ३.१
३२. मुण्डकोपनिषद्, ३.२.८
३३. Adonais, p. 59
३४. अथर्ववेद, १३.३.१७
३५. अथर्ववेद, २.११.५
३६. मुण्डकोपनिषद्, २.२.१०
३७. अग्निर्ज्योतिरग्निरिन्द्रो ज्योतिज्योतिरिन्दः ।
सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः ।
३८. छान्दोग्य उपनिषद्, ३.१४.२
३९. Adonais, p. 62
४०. आनीद्वातं स्वधया वदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥ ऋ. १०.१२९
४१. (१) "तदेवाग्निस्तद् वायुस्त सूर्यस्तच्चन्द्रमाः तदेव शुक्रं ब्रह्म तत् आपस्तत् प्रजापतिः" - तैत्तिरिय आरण्यक, १०.१.२
(२) "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्यकरवाणि"
– छान्दोग्य उपनिषद्, ६.२
(३) चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ सृ. १०.९०.१३
४२. इमामेषां पृथिवीं वस्त एकोऽन्तरिक्षं पर्येको बभूव ।
दिवमेषां ददते यो विभर्ता विश्वा आशाः प्रति रक्षन्त्येके ॥
अर्थव. १०.८.३४
४३. The Oxford Book of English Verse,
The Crossing Bar, p. 718
४४. "When I put out to Sea ......", Ibid, p. 718
४५. ऋग्वेद, १०.१७७.१
४६. O God, within my breast,
Almighty, ever-present Deity
Life - that in me has rest, ..." –The Oxford Book of English Verse, pp. 895-896
४७. यस्मिन्त्सर्वारि भूतान्यात्मेवाभूतद्विजानतः ततः को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः। – ईशावास्योपनिषद्, ७
४८. ब्रह्मविदाप्नोति परम् - तैत्तिरिय उपनिषद्, २.१.१
४९. तैत्तिरिय उपनिषद्, १.१०.१
५०. वही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

५१. वही, ३.१०.६
५२. (१) The Oxford Book of English Verse, pp. 895-896
(२) तुलनीय "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति ॥ तै. उप., ३.१
५३. तुलनीय : "आनीद्वातं स्वधया तदेकम् - ऋग्वेद, १०.१२९.२
५४. The Oxford Book of English Verse, pp. 895-896
५५. नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् । ऋ., १०.१२९.१
५६. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि राज्या आसीत् प्रकेतः । ऋ., १०.१२९.२ (पूर्वार्ध)
५७. द्रष्टव्य : ऋग्वेद, १०.१२९.२ (उत्तरार्ध)
५८. The Oxford Book of English Verse, pp. 895-896
५९. There is not room for death - Ibid., p. 896
६०. Poems (1923), p. 92
६१. ऋग्वेद, १०.९०.१
६२. द्रष्टव्य : रहस्यवाद, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ. १८२
६३. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, १.४
६४. स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो। छान्दोग्योपनिषद्, ६.८-१६
६५. The Whitman Reader, pp. 130-131
६६. तुलनीय : छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय - ६ से १६
६७. The ravening cloulds, Ibid. pp. 130-131
६८. तुलनीय : ..... अमृतमयः पुरुषोऽयमेन स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् । - बृहदारण्यक उपनिषद्, २.५.१-१४
६९. Hindu America, p. 208
७०. Poems of Emily Dickinson, pp. 227-228
७१. Selected Poems, T.S. Eliot, ed. B.R. Sharma
७२. Ibid.
७३. Ibid.
७४. Masterpieces of World Literature in Digest Form, p. 836
तुलनीय : ज्ञाते द्वैतं न विद्यते, माण्डूक्य कारिका, १.१८
७५. मुण्डकोपनिषद्, ३.२.८
७६. Contemporary American Poerty, The Experience of Poerty in a Scientific Age, p. 194
७७. Ibid., p. 195

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

७८. ऋग्वेद, १०.१३०.३
७९. Ibid., १०.१२९
८०. 'Infinity, when all things it beheld,
In nothing, and of nothing all did build'
Contemporary American Poerty, The Experience of Poerty in a Scientific Age, p. 194
८१. ऋग्वेद, १०.१२९.२ (उत्तरार्ध)
८२. Contemporary American Poerty. The Experience of Poerty in a Scientific Age, p. 195
८३. ऋग्वेद, १०.३१.७, १०.८१.४, वाजसनेयि संहिता, १७.२०
८४. तैत्तिरीय ब्राह्मण, २.८.९.६
८५. ऋग्वेद, १०.१२९.६, तैत्तिरीय ब्राह्मण, २.८.९.५
८६. छान्दोग्योपनिषद्, ६.२.१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

योगवासिष्ठ में जीवन्मुक्ति

योगवासिष्ठ इस ग्रंथ का आरंभ एक आख्यान से होता है । सुतीक्ष्ण नामक ब्राह्मण महर्षि अगस्त्य से प्रश्न करता है कि मोक्ष का साधन कर्म है या ज्ञान, अथवा दोनों ? अगस्त्य ने उत्तर दिया कि जिस प्रकार पक्षी अपने दोनों पंखों के सहारे उडता है उसी प्रकार मनुष्य केवल ज्ञान और कर्म के द्वारा ही लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त कर सकता है । ज्ञान या कर्म अकेले मोक्ष की प्राप्ति नहीं करा सकते ।[१]

तात्पर्य यह है कि मनुष्य में कर्मशीलता तो है, परंतु ज्ञान-दृष्टि यथार्थ मात्रा में विकसित नहीं है अथवा ज्ञान है तो वह हमारे आचरण में समाविष्ट नहीं है । इसीलिए हम जो भी कार्य करते हैं, वह हमें पीडा में, दुःख में, संताप में ही ले जाता हैं। हम चलते हैं, परन्तु अविकसित ज्ञान-दृष्टि के कारण टकराते हैं और गिर पडते हैं । हमें ज्ञानरूपी आँखे चाहिए, तभी संसार में भ्रमण करना सम्भव हो सकता है। कर्म के कंधों पर ज्ञान को आरूढ हो जाना चाहिए । जीवन के चरम उत्कर्ष पर तभी पहुँचा जा सकता है, जब ज्ञान और कर्म संयुक्त हो जाएँ । दोनों का योग हो जाए । जीवन्मुक्ति दोनों का योग है।

वेद के मत में जीवन का अर्थ है – प्राण। वह सभी प्राणियों में सामान्य है । मात्र केवल इसी का विकास जब तक मानव में है, तब तक मानव जन्तु ही है। संस्कृत भाषा ने 'मानव और माणव' के भेद को व्यक्त करते हुए कहा है कि केवल प्राणशक्ति दोनों का विकास-स्थल माणव (जन्तु विशेष) और प्राणशक्ति तथा मनन-शक्ति दोनों का विकास-केन्द्र मानव है । मानव को द्विपादी जन्तु विशेष की हीन कक्षा से निकालकर मानवता की उच्चश्रेणी में पहुँचाने वाली मननशक्ति है । वेद में मननशक्ति को ही 'मानवता' माना है । अतः योगवासिष्ठ के मत से मानवता-पालनपूर्वक जीवन-यापन करने वाला ही मानव है।

योगवासिष्ठ का लक्ष्य ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण करना है, जिसे आधुनिक भाषा में 'महामानव' और योगवासिष्ठ की भाषा में 'जीवन्मुक्त' कहते हैं । योगवासिष्ठ मानव से महामानव, नर से नारायण, पुरुष से पुरुषोत्तम, लघु से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

महान्, आत्मा से परमात्मा, जीव से ब्रह्म अथवा अणु से विभु बनानेवाला अध्यात्म-विज्ञान है । 'जीवन्मुक्त' शब्द इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि आध्यात्मिक प्रणाली से कटा, छटा, तराशा हुआ महामानव न केवल इस जीवन में उत्कर्ष प्राप्त करता है, अपितु वह अपनी मृत्यु को भी उत्कर्षशालिनी बना लेता है । इस दृष्टि से योगवासिष्ठ अन्य ग्रंथों से सर्वदा विलग, एक विशिष्ट ग्रंथ के रूप में उभरकर हमारे समक्ष आता है । रामायण जहाँ मात्र जीवन की कला बताती है, वहाँ श्रीमद्भागवत मृत्यु की कला सिखाता है। भगवद्गीता जीवन और मृत्यु दोनों की कला बताती है, परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म सैद्धान्तिक रूप में ही। योगवासिष्ठ ही एकमात्र ऐसा ग्रंथ है जो जीवन-सिद्धान्तों का विस्तृत निरूपण करने के साथ-साथ इस प्रकार के व्यावहारिक उपायों का भी निर्देश करता है जिनका अनुसरण करके मानव अभ्युदय और निःश्रेयस अर्थात् इहलौकिक जीवन के साथ-साथ पारलौकिक जीवन को भी सजाता है। अन्य शब्दों में लौकिक उत्कर्ष ही पारलौकिक उत्कर्ष बन जाता है।

योगवासिष्ठकार को ऐसे व्यक्ति की तलाश है । वह प्रत्येक प्रतिभासम्पन्न, स्वस्थ किन्तु फिर भी हताश एवं निराश व्यक्ति को पकडकर उठाते हैं और उसमें प्रसुप्त संभावनाओं को जाग्रत करके, उसे उत्साहित करके, उचित मार्ग बताकर जीवन के उस चरम शिखर पर पहुँचाना चाहते हैं, जहाँ दुःख न हो, शोक न हो, अशान्ति न हो। जीवन का ऐसा गौरीशंकर है– जीवन्मुक्त ।

योगवासिष्ठकार के अनुसार धनसंग्रह जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा अथवा विशेष कलाओं में निपुण होना (सिद्धि) भी जीवन का परम लक्ष्य नहीं है। धनसंग्रह अथवा सिद्धि प्राप्ति आदि सुख दे सकते हैं परन्तु परम सुख नहीं। दुःख कुछ समय के लिए तिरोहित हो सकता है परन्तु दुःख का आत्यन्तिक विनाश सम्भव नही । धनसंग्रह अथवा सिद्धिप्राप्ति आदि जीवन में महत्त्वपूर्ण है परन्तु उनका महत्त्व उतना ही है जितना मंजिल तक पहुँचने के लिए सीढी के प्रारम्भिक सोपानों का ।

मनुष्य को चाहिए कि पहले देशाचार और सदाचार के अनुकूल तथा बन्धु बान्धवों की सम्पत्ति के अनुरूप न्याययुक्त पुरुषार्थ द्वारा क्रमशः धन का उपार्जन करे । उस धन के द्वारा कुलीन और गुणशाली सज्जनों को अपनाए, उनकी सेवा करके उन्हें अपने अनुकूल बनाए । उन सत्पुरुषों का संग करने से भोगों की ओर से विरक्ति होने लगती है। तदनन्तर विवेकपूर्ण विचार का उदय होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तत्पश्चात् शास्त्रों के यथार्थ अर्थ का अनुभव होता है। उसके बाद क्रमशः परमपद स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है ।

जीवन अत्यन्त रहस्यपूर्ण है । साथ ही जीवन को देखने की हमारी दृष्टि अत्यन्त भ्रमपूर्ण है। जब तक जीवन के रहस्यों से हमारा जीवंत परिचय नहीं होगा तब एक जीवन को देखने की हमारी दृष्टि स्वच्छ एवं भ्रमयुक्त नहीं होगी तब तक जीवन एक भटकाव ही सिद्ध होगा। तब हमारा धन हमें भटकने से रोक नहीं सकता, हमारा तथाकथित ज्ञान हमें अंधकारपूर्ण गर्त में गिरने से बचा नहीं सकता ।

ऐसी स्थिति में योगवासिष्ठकार उस प्रत्येक गन्तव्यहीन व्यक्ति को सही गन्तव्य का पता दे रहे हैं, जो प्यासा तो है मगर उस बूँद को नहीं पा रहा है जो बादल में होकर भी बादल से बडी है । और वह बूँद है जीवन्मुक्त जिनके पान में तृप्ति है, संतोष है, शान्ति है, परम सुख है। वह शान्ति मनुष्य को अकर्मण्यता की ओर नहीं ले जाती, अपितु सामान्य जन से भिन्न महाकर्ता और महाभोक्ता बनाती है, वह 'जीवन्मुक्त' वर्तमान जीवन को ऐसी सभी ग्रंथियों से मुक्त कराती है जिनके कारण आज का मनुष्य मुक्ति और आत्मा की मस्ती से अलग-थलग है।

जीवन्मुक्त रूप लक्ष्य की सिद्धि के लिये योगवासिष्ठकार प्रत्येक सम्भव उपाय का आश्रय लेते हैं । मुख्य बात है जीवन्मुक्त बनने की, महामानव होने की। उसके लिए उन्हें ज्ञान, भक्ति तथा कर्म सभी कुछ स्वीकार है । जीवन के चरमोत्कर्ष को प्राप्त करने के लिए आत्म-साक्षात्कार अपरिहार्य है और आत्म-साक्षात्कार हेतु विशुद्ध चित्त, जिसे योगवासिष्ठ में 'सत्त्व' कहा गया है अत्यंत आवश्यक है। सत्त्व में स्थित होने के लिये साधना की अग्नि में तपना अनिवार्य है । तभी मनरूपी मलिनता, जो समस्त दुःखों का, अशान्ति का तथा भव-बंधन का कारण है, जलकर नष्ट हो पाती है । मनरूपी मलिनता के हटते ही हृदय-दर्पण अनुपम आभा से दैदिप्यमान होने लगता है और तब उस हृदय गुहा में विराजमान् परमात्मा स्वतः प्रकट हो जाता है।

जीवन अर्थात् इस समय का हमारा वर्तमान जीवन । जीवन जैसा है, वैसी ही मृत्यु होगी । जो इस पार है, वही उस पार होगा । जैसे हम इस जीवन में हैं, वैसे ही जीवन के पार हो सकेंगे । हम एक तारतम्य है । मृत्यु से हम समाप्त नहीं हो जाते । मृत्यु जीवन-यात्रा का एक पडाव मात्र है, जहाँ से हम

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपने सम्पूर्ण जीवन सूत्रों को एकत्रित करके नई यात्रा पर निकल जाते हैं। अत: यदि इस जीवन में हम अंधकार में हैं, तो जीवन के पार भी नरक ही हमारी प्रतीक्षा करेगा । अत: वर्तमान उपलब्ध जीवन में ही हमें जाग्रत होना है। जो कुछ इस जीवन में संचित करेंगे, वही मृत्यु के पार प्रकट हो जायेगा । मृत्यु जीवन का चरम उत्कर्ष है, मृत्यु कसौटी है । वर्तमान जीवन का सम्यक् व्यवहार (निष्काम-कर्म) ही इस जीवन में अभ्युदय की प्राप्ति कराता हुआ नि:श्रेयस का जनक बन जाता है।

मुक्ति का अर्थ है– मन से मुक्त होना । मन एक वृक्ष के समान है, जिसका मूल अहंकार है, वासना तना है, तथा आसक्ति, ममता, कामना, तृष्णा, इच्छा आदि उस वृक्ष के पत्र-पुष्प आदि हैं। जैसे मूल को काट देने से हरा-भरा वृक्ष भी सूख कर समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार अहंकाररूपी मूल को काट देने से मन रूपी वृक्ष सूख कर नष्ट हो जाता है । मन के नष्ट होने का अर्थ मन:शक्ति का नष्ट होना नहीं है । मन:शक्ति तो मनुष्य को ईश्वर प्रदत्त विशिष्ट उपहार है। उसी के द्वारा वह इस सृष्टि का श्रेष्ठतम प्राणि स्वीकार किया गया है। मन के नष्ट होने का अर्थ है उन सभी विकारों का नष्ट हा जाना जो हमें दु:ख और अशान्ति के गहन गर्त में ले जातें हैं मन से मुक्त होने पर आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है । यही मोक्ष अथवा निर्वाण है ।

अत: जीवन्मुक्त का अर्थ है इसी जीवन में मन से मुक्त हो जाना । योगवासिष्ठ के अनुसार जीवित पुरुषों के जीवन की वह अवस्था जिसमें वासनाओं का सर्वथा क्षय हो जाता है, जीवन्मुक्ति कहलाती है ।[२] स्वप्नावस्था के वासना बीज से रहित होने पर सुषुप्ति अवस्था प्राप्त होती है । जिसमें वासनाएँ सुप्त अथवा विलीन हो जाती हैं, उस प्रगाढ निद्रा का नाम सुषुप्ति है । परन्तु जिस अवस्था में वासनाओं का सर्वथा क्षय हो जाता है, उसे तुरीय कहते हैं। जाग्रत् अवस्था में भी वासनाओं का समूल नाश हो जाने के कारण तुरीयावस्था होती है। यही जीवन्मुक्ति है । तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाने से जाग्रत्काल में जो राग और वासना से रहित सुषुप्ति अवस्था प्राप्त होती है, उसे तत्त्वज्ञ पुरुष स्वभाव कहते हैं, और उसमें परिनिष्ठित हो जाना मुक्ति है । मन से मुक्ति ही सत्त्व में स्थिति है ।

योगवासिष्ठ का उपदेश यही है कि इसी जीवन में मुक्त बनो । इस जीवन में मुक्त हो तो भविष्य मे भी मुक्त ही रहोगे। जीवन्मुक्त के इस मंदिर में पहुँचकर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मनुष्य निर्द्वन्द्व होकर संसार-पंक में रहते हुए भी पंक से सर्वथा अलिप्त रह सकता है । केवल पंक-मुक्त ही नहीं रह सकता, अपितु कमलवत् प्रस्फुटित होकर अपनी जीवन सौगन्ध को चतुर्दिक् विकीर्ण भी कर सकता है ।

जीवन्मुक्त ऐसी दशा है जहाँ जीवन के कंधों पर परमात्मा आरुढ हो जाता है, जहाँ जीवन की साधारणता में परमात्मा की असाधरणता प्रकट हो जाती है ।

मनुष्य में कर्मशीलता तो है, परन्तु ज्ञान-दृष्टि यथार्थ मात्रा में विकसित नहीं है । अथवा ज्ञान है तो वह हमारे आचरण में समाविष्ट नहीं है। इसीलिए हम जो भी कार्य करते हैं, वह हमें पीडा में, दुःख में, संताप में ही ले जाता है । हम चलते हैं, परन्तु अविकसित ज्ञान-दृष्टि के कारण टकराते हैं और गिर पडते हैं । हमें ज्ञानरूपी आँखें चाहिये, तभी संसार-अटवी में भ्रमण करना सम्भव हो सकता है । कर्म के कंधों पर ज्ञान को आरुढ हो जाना चाहिए । जीवन के चरम उत्कर्ष पर तभी पहुँचा जा सकता है, जब ज्ञान और कर्म संयुक्त हो जाएँ । दोनों का योग हो जाए । 'जीवन्मुक्त' दोनों का योग है ।

इस प्रकार योगवासिष्ठ में चित्रित 'जीवन्मुक्ति' से जो ध्वनि स्पष्टतया प्रतिध्वनित हो रही है, उसे हम विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में प्रस्तुत कर सकते हैं।

प्रथम परिप्रेक्ष्य : जीवन्मुक्ति जीवन में ही मुक्ति है । इसीलिए अवसर की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए । जो मिला है उसी की क्षमता का पूर्ण सदुपयोग करना चाहिए । अभी इसी स्थान पर और परिस्थिति में जाग्रत होना है क्योंकि यदि अभी जीवन में मुक्ति अनुभव नहीं हुई, तो फिर मृत्यु में कैसे होगा ? योगवासिष्ठकार कहते हैं – अभी से जागो, अभी स्वयं को रूपांतरित करो । वृद्धावस्था की प्रतीक्षा मत करो । बाल्यावस्था, युवावस्था का सदुपयोग कर लो। अभी तो जीवन है क्षणभर के पश्तात् की कौन कहे जीवन सदैव आज है, मृत्यु सदैव कल है । अतः जीवन्मुक्त वह है, जिसने अवसर की प्रतीक्षा नहीं की, कल के लिए स्थगन नहीं किया तथा जिसने प्रत्येक क्षण का सदुपयोग किया ।

द्वितीय परिप्रेक्ष्य : जीवन्मुक्ति जीवन में मुक्ति है, इसलिए जीवन से पलायन नहीं करना चाहिए । जीवन-संघर्ष से भागना व्यर्थ है । प्रारब्धवश जो कुछ प्राप्त हुआ है, उसी में सफलता का मार्ग खोजना चाहिए । पलायन से कुछ प्राप्त न होगा क्योंकि हम हम ही रहेंगे । जिसका चित्त शान्त है, उस पुरुष के लिए घर ही दूरवर्ती निर्जन वन है । परन्तु जिसका चित्त शान्त नहीं है, उस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुरुष के लिये निर्जन वन भी जनसमुदाय से भरा हुआ नगर है ।[३]

रूपान्तरण ही वास्तविक है। जहाँ हो वहीं बदलो । जीवन की आग से ही निकलकर आत्मा शुद्ध होती है, निखरती है, स्वर्ण बनती है । अत: जहाँ है, जैसे है, वहीं जाग्रत् रहकर कार्य करना है । जीवन तपश्चर्या है ।

तृतीय परिप्रेक्ष्य : जीवन्मुक्ति अर्थात् जीवन ही मुक्ति है । जीवन और मुक्ति विपरीत नहीं है । साधारणत: मोक्ष और जीवन को विपरीत समझा जाता है । यदि जीवन में हमारा रस है, तो मोक्ष से हम दूर हो जाते हैं । और यदि मोक्ष में रस लेते है, तो जीवन नीरस हो जाता है । परन्तु यह एक मिथ्या धारणा है । योगवासिष्ठकार के अनुसार यह सम्पूर्ण जीवन परमात्मा ही है । पुण्य में भी वही है और काँटे में भी वही है । चतुर्दिक् प्रवाहित रसधारा उसी की प्रवाहित की हुई है । अत: जीवन के विपरित जाने की कोई आवश्यकता नहीं है । स्वधर्मरूप कार्य का पालन करते हुए ही मुक्त होना है । अणु-अणु में वही एक प्रभु व्याप्त है । यदि दिखाई न पडे, तो अपनी आँखों का ही दोष है । आँखों में आत्म-चिन्तन का काजल लगाना चाहिए । अज्ञान का आवरण हटाकर हृदय के कपाट अनावृत्त करना चाहिए । जीवन में ही परमात्मा है, जीवन में ही मोक्ष है ।

योगवासिष्ठ में चित्रित जीवन्मुक्त की तुलना श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ से की जा सकती है । स्थितप्रज्ञ की कोई वासना नहीं होती, वह आत्मरत रहता है, न तो उसमें आसक्ति है, न भय है, और न क्रोध, वह दु:खों से विचलित नहीं होता और न सुख की स्पृहा करता है, वह पूर्णतया राग, द्वेष से विवर्जित रहता है । जैसे कछुआ अपनी इन्द्रियों को अन्दर खींच लेता है, वैसे ही वह विषयों से अपने आपको अलग रखता है।[४] योगवासिष्ठ का जीवन्मुक्त गीता के स्थितप्रज्ञ से एक विशेष अर्थ में उच्च स्थान रखता है । जीवन्मुक्त पुण्य-पाप के फलस्वरूप सुख-दु:ख से पूर्णत: अप्रभावित रहता हुआ भी दूसरों के सुख में सुखी एवं दूसरों के दु:ख में सहानुभूति रखता है। वह बच्चे के सदृश आनन्द मना सकता है, जितना कि अन्य दार्शनिक । योगवासिष्ठ ने जीवन्मुक्त संत के निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों पक्षों पर बल दिया है। वह पूर्णत: अप्रभावित रहते हुए भी समाज से विरक्त नहीं है और प्रत्येक प्रवृत्ति में भाग लेता हुआ प्रतीत होता है । गीता सदा निश्चित रूप से अनासक्त योगी के लिये भी शुभ कर्म करने का विधान करती है, परन्तु उसमें जीवन में सबके साथ पूर्ण और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उचित रूचि लेने का आदेश नहीं है। योगवासिष्ठ में जीवन्मुक्त स्वयं अपने कर्म ही अनासक्त होकर नहीं करता अपितु प्रत्यक्षतः दूसरों के सुख-दुःख में भागीदार हो जाता है ।

योगवासिष्ठ के अनुसार जीवन्मुक्तों के लक्षण इस प्रकार हैं–

जिस अन्मुखी वृत्तिवाले को सुखों से सुख और दुःखों से दुःख का अनुभव नहीं होता वह मुक्त कहलाता है ।[५] ऐसे समदृष्टि वाले व्यक्ति बडे-बडे भयानक और बार-बार आनेवाले सुख-दुःखों से भी मन विकार नहीं आने देते। जगत् का सारा व्यवहार करते हुए भी जिसके मन में किसी वस्तु के प्रति रसिकता नहीं आती वह शान्त कहलाता है । जिसके सब काम इच्छा और संकल्प से रहित होते हैं और जो यथाप्राप्त क्रियाएँ करता रहता है वही शान्त कहलाता है। मुक्त पुरुष न किसी को उद्विग्न करते हैं न वे किसी से उद्विग्न होते हैं । उनके लोभ, मोह आदि दुश्मन नष्ट हो जाते हैं । वे दूसरों के मन के भावों को जानकर लोकप्रिय आचरण करते हैं तथा प्रिय और मधुर वाणी बोलते हैं । वे क्षण भर में कार्यों का विवेचन और निर्णय कर लेते हैं । बाहर से तो वे सब काम करते हुए दिखाई पडते हैं लेकिन भीतर सब प्रकार से शान्त रहते हैं। मुक्त पुरुष प्राप्त वस्तु की उपेक्षा नहीं करते, और अप्राप्त वस्तु की अभिलाषा भी नहीं रखते हैं। जो कार्य जीवन-प्रवाह में करने को मिले उसे जो कामना और संकल्परहित होकर और हृदय में शून्यता का भाव रखकर करते हैं वे ही ज्ञानी हैं । मुक्त पुरुष वर्ण, धर्म, आश्रम, आचार और शास्त्रों की यंत्रणा से बरी होकर जगत् के जञ्जाल से इस प्रकार निकल भागना है जैसे पिञ्जरे से शेर । सब कर्मों का फल त्यागनेवाला, सदा तृप्त, किसी के आश्रित न रहनेवाला वह पुण्य, पाप या किसी भाव में लिप्त नहीं होता, उसकी वासनाओं की गाँठे खुलकर धीरे-धीरे गिर जाती हैं, गुस्सा कम हो जाता है और मोह मन्द पड जाता है । उसके चेहरे पर सदा ही प्रसन्नता की शोभा छाई रहती है । वह जीवन की चाह और मृत्यु की निन्दा नहीं करता । वह किसी वस्तु के बन्धन में नहीं पडता, सदा ही तृप्त और असक्त रहता हुआ सम्राट के समान असंग रहता है। वह परिपूर्ण मनवाला, अपने मान में रहनेवाला, मौनी और शत्रुओं के मध्य में भी अचल रहनेवाला है । भयानक आपत्तियों में, सम्पत्ति की अवस्थाओं में और आनन्ददायक उत्सवों में विचरण करते हुए, उसे न उद्वेग होता है और न आनन्द। मन के भीतर सदा मुक्त रहता हुआ भी वह सब कामों को करता रहता है। न

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वह डरता है, न वह विवश और दीन होता है । वह मौनी, सम और स्वस्थ मन होकर पर्वत के समान धीरता से रहता है। सब वस्तुओं से विरक्त, इच्छाओं से रहित वह आत्मा में संतुष्ट रहता है, न किसी वस्तु की चाह करता है और न इसलिए की कोई काम करता है। न उसको आकाशगमन आदि सिद्धियों की इच्छा होती है और न भोगों की प्राप्ति की, न प्रभाव की, न सम्मान की, न मरने की और न जीने की ।

वह सब सुखों को भोगता हुआ और सब प्रकार की आशाओं वाला दिखाई पडता है और कर्ता होने के भ्रम को त्यागकर वह सब कर्मों को करता रहता है। प्राकृत कामों में लगा हुआ भी वह उदासीन के समान रहता है वह न अभिलाषा करता है, न सोच फिक्र, न द्वेष करता है और न हर्ष । जैसा अवसर हो उसके अनुसार असक्त मन से वह भक्त के प्रति भक्त का, शठ के प्रति शठ, बालक के प्रति बालकसा, वृद्धों के प्रति वृद्धोंसा, धीरों के प्रति धीरता का व्यवहार करता है । यौवन-वृत्तिवालों में वह युवा के समान रहता है और दुःखियों को देखकर दुःखी होता है। उसको न भले काम करने से कुछ मतलब, न बूरे, न भोगों से और न कर्म करने से, न भोगों को त्यागने से और न बन्धुओं से । सब वस्तुओं को सब प्रकार से वह ग्रहण और त्याग करता रहता है । उसे कुछ प्राप्त तो करना ही नहीं तो भी बालकों के समान वह सदा काम में लगा रहता है। वह देश, काल, क्रिया और क्रम के अनुसार सब कामों को करता हुआ भी कामों से उत्पन्न सुख-दुःखों से परे रहता है । वह न कभी दीन होता है, न कभी उद्धत, न प्रमत्त, न खिन्न, न उद्विग्न, न हर्षित । जैसे आँख देखने का आनन्द लेती है वैसे ही वह भी बिना विशेष यत्न किये यथाप्राप्त भोगों को लीला से असक्त मन होकर भोगता रहता है । शत्रुओं के बीच में भी वह दया और चतुराई से रहता है । अपने स्वरूप को जाननेवाला वह रागद्वेषों के बस में नहीं होता ! वासनारहित होकर जो इस भाव से कामों के करते हुए उनके बनने और बिगडने से प्रसन्न नहीं होता और सोच फिक्र नहीं करता और सदा ही समभाव से रहता है। अप्राप्त की अभिलाषा न करना और प्राप्त भोगों को भोग लेना ज्ञानियों का लक्षण है । ज्ञानी लोग जगत् के व्यवहार को न त्यागते हैं और न उसकी कामना ही करते हैं । जैसे अवसर होता है वे वैसा ही व्यवहार करते हैं। अपने शरीररूपी रथ में स्वस्थ और उन्नत मस्तक होकर बैठे हुए मुक्त लोग इच्छारहित रहते हुए यथाप्राप्त व्यवहार को करते हुए विचरते हैं । बोध

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मात्र में स्थित वे जीवन्मुक्त जागते हुए भी सोते से दिखाई पडते हुए जगत् के सब व्यवहार करते रहते हैं। वह कल्पनायुक्त होता हुआ भी कल्पनारहित है। चित्तयुक्त होता हुआ भी चित्तरहित है। काम करते हुए भी या न करते हुए उसमें अहंभाव नहीं रहता, उसकी बुद्धि किसी काम में लिप्त नहीं होती। स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, सम्पत्ति को वह पूर्वजन्म में किये हुए कर्मों का फल और स्वप्न के समान समझता है। उसके अन्दर लोकेषणा, दारेषणा और धनेषणा नहीं उत्पन्न होती, वह अपूर्व विभ्रन्ति का अनुभव करता है और जीता हुआ ही मुर्दे के समान दिखाई पडता है। सामयिक आपत्तियों में, सदा रहनेवाले सुखों और दुःखों में, न वह प्रसन्न होता है और न ग्लानि का अनुभव करता है। इष्ट वस्तु की चाह और अनिष्ट वस्तु से नफरत उसके मन में नहीं होता। वह सदा सोते हुए पुरुषों के समान प्राकृत आचरण करता रहता है। जिसके भीतर 'मैं और मेरा' भाव क्षीण हो गया है वह जीवन्मुक्त है। जिसके मन पर हर्ष और शोक, भय, काम और कृपणता आदि का असर नहीं होता वह जीवन्मुक्त है। जीवन्मुक्त सब स्वाभाविक कामों को करता है और सब दृष्टियों से मध्यस्त रहता है। वह सदा वासंनात्याग का अवलम्बन करके स्थित रहता है। सदा और सब जगह उद्वेग से रहित और सब कामों में सहायता देनेवाला है। वह विवेक में स्थिर आत्मा को जाननेवाला और प्रबोधनरूपी उपवन में सदा वास करनेवाला है। वह सब विषयों के बीच व्यवहार करता हुआ भी शीतल और परिपूर्ण रहता है।[६]

जीवन्मुक्त महाकर्ता है : योगवासिष्ठ के अनुसार महाकर्ता वह है जो यथा प्राप्त धर्म और अधर्म को शंकारहित होकर करता है, जो रागद्वेष, सुख-दुःख, धर्म-अधर्म, सफलता और विफलता में निरपेक्ष रहकर काम करता है, जो अहंभाव, मल और मत्सर से रहित होकर मौनी के समान उद्वेग रहित रहकर काम करता है, जिसके मन में शुभ और अशुभ, धार्मिक और अधार्मिक कामों के करते हुए शंका नहीं होती, जो आनन्द और उद्वेग से रहित है, जो सम और शुद्ध बुद्धि से काम करते हुए न उल्लसित होता है और न चिन्ता करता है, जो कर्म और अकर्म दोनों में उदासीन रहकर काम करता हुआ भीतर समभाव में रहता है, जो स्वभाव से शान्त ही है, जो शुभ या अशुभ कामों को करता हुआ कभी समता का त्याग नहीं करता और जिसका मन उत्पत्ति, स्थिति, नाश, उदय और अस्त, सब अवस्थाओं में समान रहता है।

जीवन्मुक्त महाभोक्ता है : योगवासिष्ठ के अनुसार दैवयोग से प्राप्त जो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वाभाविक भोग हैं उनको इच्छा और घृणा से रहित होकर ऐसे भोगना चाहिये जैसे आँख देखने का आनन्द लेती है वैसे ही ज्ञान भी बिना किसी विशेष यत्न के प्राप्त भोगों को असक्त मन होकर लीला से भोगते हैं। दैवयोग से प्राप्त स्त्री आदि भोग भोगने पर धीर पुरुष को न आनन्द होता है और न दुःख । अप्राप्त भोगों का वासना न करना और प्राप्त भोगों का भोग करना ही ज्ञानियों का लक्षण है । जीवन्मुक्त महाभोक्ता है । महाभोक्ता उसे कहते है जो न किसी विषय की इच्छा करता है और न किसी से घृणा करता है । सब स्वाभाविक भोगों को भोगता है, जो देते हुए भी कुछ नहीं देता, जो करते हुए भी कुछ नहीं करता, जो भोगते हुए भी कुछ नहीं भोगता, जो समाप्त लोकव्यवहार को बिना खिन्न मन के साक्षी के समान इच्छारहित होकर देखता है, जो बुढापे और मौत को, आपत्ति, राज्य और दारिद्रता को एकसा ही रम्य समझता है, जो महान् दुःख और सुखों को समान भाव से ऐसे ग्रहण करता है जैसे समुद्र सब नदियों को, जो खट्टे, नमकीन, मीठे, उत्तम और अधम खाद्य पदार्थों को समान भाव से खाता है, जो सरस और नीरस, सुरत और विरत को समान भाव से और शान्त रहकर देखता है, जिसके लिए नमक और मिठाई, शुभ और अशुभ ठीक समान जान पडते हो, जो अभिलाषा रहित होकर और इस विचार को छोडकर खाता है कि खाने लायक पदार्थ है और यह खाने लायक नहीं, और जो आपत्ति और सम्पत्ति, आनन्द और मोह, अपने और पराये सब का समबुद्धि से भोग करता है ।

संसार का व्यवहार करता हुआ भी जीवन्मुक्त समाधि में ही रहता है । योगवासिष्ठ के अनुसार व्यवहार में लगा हुआ ज्ञानी और वन में रहनेवाला ज्ञानी दोनों ही एक से हैं - दोनों ही सन्देहरहित पद को प्राप्त हो चुके हैं । जीवन्मुक्त का मन वासना के क्षीण हो जो के कारण कर्म करते हुए भी अकर्ता है, जैसे कथा सुनने में उस आदमी मन जिसका ध्यान दूर चला गया हो । जिसके चित्त में गहरी वासनायें भरी हैं उसका मन कर्म न करता हुआ भी करता है - जैसे कि कुछ भी किया न करता हुआ व्यक्ति स्वप्न में गड्ढें में गिरने का अनुभव कर लेता है । चित्त का अकर्तृत्व भाव ही उत्तम समाधि है । उसी को केवली भाव और उसी को परम निवृत्ति कहते हैं । जिनका चित्त भली-भाँति स्थिर है और जिनका अहंभावरूपी दोष क्षीण हो चुका है, उन गृहस्थियों के लिये उनका घर ही निर्जन वनतुल्य है। समाहित चित्तवालों के लिये तो घर और वन एकसे हैं । जब अपने भीतर शीतलता आ जाती है तो सारा संसार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शीतल हो जाता है । जो अपने आत्मा को सब भावों और पदों से परे और सब भावों को युक्त रूप से देखता है वही समाधिस्थ है । जो आत्मा को सब वस्तुओं के भीतर देखता हुआ शान्त बुद्धि होकर न किसी वस्तु का ध्यान करता है और न किसी की सोच करता है वही समाहित है । जीवन्मुक्त महासत्त्व पद को प्राप्त करके इतने ऊँचे पद पर पहुँच जाता है कि उसको इस बात की जरा भी परवाह नहीं रहती कि वह रहे य न रहे, मरे या जिये ।

जीवन्मुक्त की शरीर के प्रति दृष्टि : जीवन्मुक्त इस शरीररूपी नगरी पर राज्य करता, उसको शरीर से घृणा नहीं होती । जीवन्मुक्त उत्तम पद पर स्थित हुआ चक्रभ्रम पर बैठे व्यक्ति के समान शरीर-नगरी पर राज्य करता हुआ भी लिप्त नहीं होता । ज्ञानी के लिये यह शरीर-नगरी उपवन के समान भोग और मोक्ष को देखनेवाली है, सुख देनेवाली है, दुःख देनेवाली नहीं है । यह देहनगरी बडी सुरम्य और सर्वगुण सम्पन्न है । ज्ञानी को अनन्त आनन्द देनेवाली आत्मसूर्य का प्रकाश करनेवाली है । जो अपने मन और शरीर का ज्ञान रखता है उसके लिये यह सर्व सौभाग्य और सौंदर्यवाली शरीर-नगरी दुःख देनेवाली नहीं है, बल्कि परमहित सुख देनेवाली है । यह शरीर ज्ञानियों को तो अनन्त प्रकार के सुख और आनन्द का तथा अज्ञानियों को अनन्त प्रकार के दुःखों को देनेवाला है । जैसे इन्द्र को अमरावती सुख देती है वैसे ही यह देह भी ज्ञानियों को सुख देती है और उनके भोग और मोक्ष का साधन होती है । शरीर में बैठी हुई सर्वगत आत्मा नाना प्रकार के भोगों को भोगती हुई अपने पुरुषार्थ को प्राप्त कर लेती है । ज्ञानी लोग इन्द्रियों द्वारा प्राप्त विषयों का तिरस्कार नहीं करते और अप्राप्त विषयों को पाने का यत्न नहीं करते, परिपूर्ण भाव में स्थित रहते हैं ।

जीवन्मुक्त यथाप्राप्त अवस्था के अनुसार व्यवहार करता है । योगवासिष्ठ के अनुसार वे ज्ञानी नहीं हैं, मूर्ख है, जो जब तक देह है तब तक समचित्त होकर देह की अवस्थाओं के अनुसार कर्मेन्द्रियों का व्यवहार नहीं करते। जो मूर्ख तत्त्व को नहीं जानते वे ही अपने बालपन के कारण स्वाभाविक अवस्थाओं से दूर भागते हैं जब तक तिल है तब तक तेल है, वैसे ही जब तक यह शरीर है तब तक इसकी स्वाभाविक दशायें हैं । जो शरीर की अवस्था के अनुसार व्यवहार नहीं करता वह तलवार से आकाश को काटता है। देह की दशा के अनुसार होनेवाले दुःख-सुखों का त्याग करना ठीक नहीं । चित्त की शान्ति और समता तो योग से प्राप्त होती है न कि कर्मेन्द्रियों को स्थगित कर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

देने से । जब तक शरीर है तब तक ज्ञानपूर्वक सदाचार के अनुसार कर्मेन्द्रियों द्वारा देह की आवश्यकताएँ पूरी करनी चाहिये, मन द्वारा नहीं । जब तक सृष्टि है तब तक काम करने से ही मन को प्रसन्न करनेवाले को सुख मिलता है । स्वाभाविक कामों को करने से किसी को कोई दोष नहीं लगता ।

बाह्य व्यवहार में ज्ञानी और अज्ञानी में समानता है लेकिन भेद वासना के कारण है, जो बन्धन और मोक्ष का कारण है । जब तक शरीर है तब तक दुःख में दुःख और सुख में सुख अज्ञानियों की तरह असंसक्त ज्ञानियों के शरीर में भी होते दिखाई पडते हैं । जो मन से मुक्त है, चाहे वह कर्मेन्द्रियों के व्यवहार में बँधा हुआ ही हो, और जो मन से बद्ध है वही बद्ध है, चाहे कर्मेन्द्रियों से कुछ भी न करता हो । संसार में सुख-दुःख का अनुभव दिलानेवाली और बन्ध-मोक्ष की ओर ले जानेवाली केवल बुद्धि इन्द्रिय ही है, कर्मेन्द्रियाँ नहीं, जैसे सूर्य की किरणे प्रकाश का हेतु हैं ।

जीवन्मुक्त का चित्त : योगवासिष्ठ के अनुसार मूढ चित्त ही चित्त कहलाता है, प्रबुद्ध चित्त सत्त्व कहलाता है । चित्त का दूसरा जन्म होता है सत्त्व का नहीं ।[७] आत्मज्ञानियों का मन अत्यन्त उपशम को ऐसे प्राप्त होता है जैसे कि बादल के बरसने पर मृगतृष्णा की नदी का जल और तेज धूप के पडने पर बर्फ के कण विलीन हो जाते हैं, तुरीय दशा में स्थित हो जाता है । जीवन्मुक्तों का हृदय शुद्ध होकर इस प्रकार दूसरे जन्म को उत्पन्न नहीं कर सकता । उन जीवन्मुक्त महात्माओं का चित्त, जिन्होंने उस तत्त्व का दर्शन कर लिया है जो यहाँ और वहाँ सब जगह है, सत्त्व कहलाता है, जीवन्मुक्त के शरीर में व्यवहार करनेवाली वासना का नाम चित्त नहीं है, वह सत्त्व कहलाती है । तत्त्वज्ञानी लोग जो नित्य समाभाव में स्थित हैं, चित्तरहित हो जाते हैं । वे सत्त्व के स्पन्दन द्वारा लीला से संसार में भ्रमण करते हैं । विवेकद्वारा शुद्ध किया हुआ चित्त 'सत्त्व' कहालाता है, जैसे भुने हुए बीज से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती वैसे ही सत्त्व से मोह उत्पन्न नहीं होता । जो मुनि अन्तर्मुख होकर चित्तरूपी अग्नि में तीनों जगत्रूपी तृणों की आहुति देता रहता है उसके लिए चित्त आदि भ्रम मिट जाते हैं ।

जीवन्मुक्त और सिद्धियाँ : तत्त्वज्ञानी हो या अज्ञानी, जो कोई काल, द्रव्य और क्रिया द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है । जीवन्मुक्त आत्मभाव में स्थित है उसकी सब वासनायें क्षीण हो गई हैं, वह सबसे परे सर्वोच्च पद पर स्थित है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और आत्मा में ही संतुष्ट है । वह किसी प्रकार का यत्न नहीं करता । न उसे आकाश-गमन आदि सिद्धियों से कोई मतलब है और न भोगों से, न उसे प्रभाव की इच्छा है और न सम्मान की । उसे न जीने की अभिलाषा है और न मरने का भय । यदि कोई आत्मज्ञानी भी सिद्धियाँ प्राप्त करना चाहे तो वह भी सिद्धि के देनेवाले द्रव्यों द्वारा उनको क्रम से प्राप्त कर सकता है। द्रव्य, काल, क्रिया, मन्त्र और प्रयोग की जो स्वाभाविक शक्तियाँ हैं उनको वश में करने से आकाशगमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । द्रव्य, काल, क्रिया और क्रममुक्ति से उपयोग में लाने पर अपने स्वाभाविक फलों को देते हैं । जिके चित्त में जैसी इच्छा उत्पन्न होती है, वह चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, यत्न करके उसको यथा समय पूरी कर लेता है। जो-जो सिद्धि नामक फल जिस-जिसने प्राप्त किये हैं वे सब उन्होंने अपने-अपने ही पुरुषार्थ रूपी वृक्ष से पाये हैं ।

प्रत्येक व्यक्ति जीवन्मुक्त हो सकता है : योगवासिष्ठ के अनुसार जीवन्मुक्तता किसी विशेष अथवा वर्गविशेष की सम्पत्ति नहीं है । स्वधर्मरूप कर्म भी जीवन्मुक्तता में बाधक नहीं है । जाति अथवा कुल का कोई बन्धन नहीं है । उपेक्षित, विपन्न, दीन-हीन, गृहस्थ, राजा, तपस्वी, शिल्पी, स्त्री, पुरुष तथा बालक कोई भी जीवन्मुक्त हो सकता है । जो जहाँ भी है, जैसा भी है, वहाँ उसी स्थिति में जीवन्मुक्त बन सकता है । केवल जागरूक होकर दृष्टि बदलने मात्र की आवश्यकता है। निरन्तर इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए योगवासिष्ठ में स्पष्ट एवं असन्दिग्ध शब्दों में कहा है, "इस भूतल पर कितने ही गृहस्थ जीवन्मुक्त हैं, जो असंग बुद्धि से यथाप्राप्त वर्णाश्रम धर्म का अनुसरण करते हैं । कुछ लोग वर्ण और आश्रम के अनुसार प्राप्त वेदोक्त व्यवहार का अनुसरण करते हुए सदा अग्निहोत्र में प्रवृत्त रहते हैं। तथा पंच महायज्ञों के अवशिष्ट अमृतमय अन्न का भोजन करते हैं। कुछ जीवन्मुक्त सदा ध्यान और देवपूजन आदि स्वकर्म का अनुष्ठान करते हुए नाना प्रकार की चेष्टाओं एवं प्रयत्नों में लगे रहते हैं । कुछ महान् आशयवाले महापुरुष अपने अंतःकरण में सम्पूर्ण फलों की आसक्तियों का परित्याग कर सब प्रकार के नित्य-नैमित्तिक कर्म करते हुए तत्त्वज्ञानी होकर भी अज्ञानी की भाँति स्थित रहते हैं। कुछ लोग उन शून्य वनस्थलियों में ध्यान लगाते हैं, जहाँ स्वप्न में भी मनुष्यों के दर्शन नहीं होते और जो भोले-भाले मृग-शावकों से आपूर्ण रहते हैं । कुछ लोग उन पुण्य तीर्थों, आश्रमों अथवा देवालयों में रहते हैं, जो पुण्य की वृद्धि करनेवाले हैं, जहाँ सदा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुण्यात्मा पुरुष निवास करते हैं । तथा जहाँ का सदाचार मन और इन्द्रियों के निग्रह से सुशोभित होता है ।। कुछ समतापूर्ण हृदयवाले पुरुष राग-द्वेष का परित्याग करने के लिए शत्रु-मित्रों से अविष्ट स्वदेश को छोडकर अन्य देश चले जाते हैं और वहाँ आश्रम बनाकर रहने लगते हैं । कितने ही विद्वान संसार-बंधन का उच्छेद करने के लिये एक वन से दूसरे वन में, एक गाँव से दूसरे गाँव में, एक स्थान से दूसरे स्थान में तथा एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर धूमते हैं ।"

जो ज्ञानी व्यवहार-परायण है, अथवा जिसने ज्ञान प्राप्त करके वन का आश्रय ले लिया है, वे दोनों ही सर्वथा समान हैं । क्योंकि उन दोनों को ही संपूर्ण संदेशों से रहित परमपद की प्रप्ति हो गई है ।

व्यवहार-परायण जो मनुष्य बाह्य दृश्य विषयों में सत्यता की भावना से रहित है अथवा विषयेन्द्रिय सम्बन्धों का परित्याग करके समाधि में निरत रहता है अथवा चित्रलिखित देहधारियों की भाँति प्राणों के स्पंदन से रहित है अथवा उन्हीं की भाँति मनोगति से भी शून्य है, वे सब चित्त-चैत्य के सम्बन्ध से रहित होने के कारण परमपदस्वरूप परमात्मा में समान भाव से नित्य स्थित हैं ।

जीवन्मुक्त का जीवन ही शोभामुक्त जीवन है । जीवन तो सभी जीते हैं, परंतु जीवन्मुक्त का जीवन ही विशेष रूप से आभामय होता है । वहाँ क्लेश, अवसाद अथवा दुःख की छाया भी नहीं होती तथा शान्ति, आनन्द की सरिता सतत प्रवाहित रहती है ।

योगवासिष्ठ के अनुसार जिस यथार्थदर्शी ज्ञानी की बुद्धि आत्मावलोकन से विचलित नहीं होती उसका ही जीवन शोभायुक्त है । जिसके अन्दर अहंभाव नहीं और जिसकी बुद्धि विषयों में लिप्त नहीं होती, जो सब भावों में सम रहता है, उसका ही जीवन शोभा पाता है । जो रागद्वेष से रहित है और शीतल बुद्धि से इस जीवन को साक्षी के समान देखता है, जीवन उसका ही शोभित होता है। जिसने यथार्थ पदार्थ ज्ञान पाकर और हेय-उपादेय भावना को त्यागकर अपने मन के भीतर ही मन को स्थापित कर लिया है, जीवन उसी को शोभा पाता है। सच्ची दृष्टि को प्राप्त करके जो लीला से ही जगत् की क्रियाओं को वासनारहित होकर करता है उसका ही जीवन शोभायुक्त होता है । जो हेय और उपादेय विषयों में विचरण करता हुआ अपने मन में न उद्विग्न होता है और न हर्षित, उसका ही जीवन शोभित होता है । जैसे शुद्ध सरोवर से श्वेत हंसों की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पंक्ति निकलती है वैसे ही उससे सद्‌गुणों की पक्तियाँ निकलती हैं ऐसा ही जीवन शोभित होता है। जिसके गुणों को सुनकर, जिसको देखकर, जिसका स्मरण करके सब प्राणियों को आनन्द होता है उसका ही जीवन शोभायुक्त होता है । संसार में जो भी काम किये जाते हैं उनसे समाहित चित्तवालों को ही आनन्द मिलता है, दूसरों को नहीं । बुद्धि द्वारा विवेक प्राप्त कर लेने पर ही साँप की तरह भयदायक भोगों को इस प्रकार भोग करना चाहिए जैसे कि गरूड साँपों को खा जाता है । तत्त्व का विचार और दर्शन कर लेने पर विभूतियों का सेवन करने से आनन्द की प्राप्ति होती है, अन्यथा दुःख मिलता है। जैसे वर्षा ऋतु में नदियाँ बडा आकार धारण कर लेती हैं वैसे ही संगरहित होकर भोगों को भोगने पर उनकी विभूतियाँ और अधिक हो जाती हैं जैसे वसन्त ऋतु में वृक्षों की सुन्दरता और शोभा आदि गुर बढ जाते हैं वैसे ही तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने पर मनुष्य में बल, बुद्धि और तेज की वृद्धि हो जाती है ।[१]

जीवन्मुक्त पुरुष का मित्र : श्रीराम गुरु वसिष्ठ से पूछते हैं कि जीवन्मुक्त पुरुष का मित्र कौन है जिसके साथ वह क्रीडा करता है । उसकी क्रीडा का क्या स्वभाव है ? अपने आत्मस्वरूप में अवस्थिति ही उसकी क्रीडा है अथवा रमणीय भोग-स्थानों में विहार करने से प्रसन्नता प्राप्त होती है, उसी को वह अपनी क्रीडा समझता है ?

वसिष्ठ बताते हैं जो अपना परम्पराप्राप्त सहज कर्म है, जो लोकसंग्रह के लिये किया जानेवाला अपना शास्त्रीय कर्म है तथा जो प्रयत्न से अभ्यास में लाया गया सत्-शास्त्रों का अभ्यास, विचार, सत्संग, शम, दम, तितिक्षा, उपरति, शौच, संतोष, ईश्वरध्यान और संयम आदि अपना कर्म है – वे तीनों प्रकार के कर्म, जो निन्द्य या निषिद्ध नहीं हैं, वास्तव में एक ही हैं। केवल उपाधिभेद से तीन हैं । वह मित्र पिता के समान आश्वासन देनेवाला, स्त्री के समान लज्जा द्वारा अकर्तव्य से रोकनेवाला तथा जिनका करना कठिन है, ऐसे संकटों में भी साथ देनेवाला है । उसके सेवन में किसी प्रकार की शंका के लिये स्थान नहीं है । वह परमानन्द की सिद्धि में पूर्ण सहायक है तथा क्रोध के अवसरों पर भी कोपरहित होने के कारण स्वान्तनारूप अमृत प्रदान करनेवाला है । ऐसे स्वकर्म-नामक अपने मित्र के साथ वह जीवन्मुक्तपुरुष स्वभाव से ही रमता है, किसी दूसरे से प्रेरित होकर नहीं ।

आगे श्रीराम पूछते हैं कि उसके इस मित्र की स्त्री और पुत्र आदि कौन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं तथा उनका स्वरूप क्या है ? उनमें कौन-कौन सें गुण हैं ?

वासिष्ठ कहते हैं इस स्वकर्म नामक मित्र के 'स्नान', 'दान', 'तप' और 'ध्यान' नामवाले चार महात्मा पुत्र हैं । उनके सद्‌गुणों से सारी प्रजा उनमें भली-भाँति अनुरक्त रहती है। इसकी पत्नी का नाम समता है, जो इसे बहुत ही प्रिय है । वह सदा अपने प्रियतम की हृदयवल्लभा होकर रहती है। चन्द्रलेखा के समान दर्शनमात्र से ही लोगों को आह्लाद प्रदान करती है। सदा संतुष्ट रहती और प्रियतम में अनुराग रखती है । करूणा के कारण सब ओर अपना वैभव बाँटती रहती है चित्त को चुरा लेनेवाली और आनन्द की जननी है । सदा पति के साथ रहती है और कभी अलग नहीं होती है। जो सदा धर्म और धैर्य में लगायी जाती है, वह बुद्‌धि ही इस समता की रानी की द्वारपालिका है । वह सदा उसके सामने विनम्र रहकर उसे सुख देने में तत्पर रहती है । वह उस धर्म-धुरन्धर धन्यभागी धीर पुरुष के आगे-आगे दौडती है । इस महातेजस्वी राजा के मित्र की दूसरी स्त्री 'मैत्री' है, जो राज्य पर बढे हुए शत्रुओं को पराजित करने के लिए राजा को उचित मंत्रणा प्रदान करती है । वह सदा 'समता' के साथ राजा के कंधे से कंधा मिलाकर चलती है । इसके सिवा इन मानवीय नरेश को आर्य मर्यादा रूपी समस्त कार्यों के विषय में बडी चतुराई उपदेश देनेवाली, आचार्यस्वरूपा 'सत्यता' इसका स्वार्थ सिद्ध करनेवाली धनाध्यक्षा है । इस तरह के उत्तम परिवारवाले मित्र एवं मंत्रीरूप अपने कर्म के साथ सर्वत्र व्यवहार निर्वाह करता हुआ जीवन्मुक्त पुरुष न तो लौकिक लाभ में हर्षित होता है और न हानि होने पर कुपित होता है । निर्वाण, मोक्ष में मन लगाये रहनेवाला वह मननशील मुनि युद्धादि व्यवहार में तत्पर होने पर भी चित्रलिखित योद्धा की भाँति ज्यों का त्यों ही निर्लेप स्थित रहता है । निरर्थक वाद-विवाद में वह पत्थर की प्रतिमा की भाँति मूक बना रहता है। निरर्थक बातों को सुनने में वह बहरा बनता रहता है। लोकाचार के विरुद्ध सभी कर्मों में मुर्दे के समान वह सहस्र जिह्वावाले वासुकी एवं देवगुरु बृहस्पति के समान वक्ता बन जाता है। उसकी वाणी से सदा पवित्र चर्चा ही प्रकट होती है । अपने या दूसरों के कुटिलतापूर्ण दोषों को वह शीघ्र ही ताड लेता है । वस्तुविषयक अत्यन्त दुरुह सन्देह का भी पलक मारते-मारते निर्णय करके शीघ्र उसका विवेचन कर देता है । उसकी दृष्टि में समता और हृदयमें उदारता हेती है । वह दानवीर होने के कारण सबको यथायोग्य धन वितरण करता है । उसका स्वभाव कोमल, स्नेहमय और मधुर होत है। वह सुंदर एवं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुण्यकीर्ति होता है । जिनकी बुद्धि प्रबुद्ध-तत्त्वज्ञान के प्रकाश से आलोकित है, वे प्रयत्न से ऐसे नहीं बनते हैं । जैसे चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि आदि कभी दूसरे की प्रेरणा से प्रकाशित नहीं हो, वह प्रकाश उनका स्वाभाविक गुण होता है, वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुषों का यह स्वभाव सिद्‌ध गुण बताया गया है ।

शरीर के अन्त हो जाने पर जीवन्मुक्त विदेहमुक्ति को प्राप्त होता है । योगवासिष्ठ के अनुसार जैसे चलती हुई हवा स्थिर हवा में प्रवेश कर जाती है वैसे ही देह के कालद्वारा नष्ट हो जाने पर जीवन्मुक्त विदेहमुक्त हो जाता है।[१०] विदेहमुक्त न उदय होता है न अस्त होता है, न उसका अन्त होता है, न वह सत् रहता है न असत् न कहीं दूर जाता है । न वह मैं हूँ न कोई दूसरा । वह सूर्य होकर जगत् को गर्मी देता है, विष्णु होकर त्रिलोक का पालन करता है, रुद्र होकर सबका संहार करता है, ब्रह्मा होकर सृष्टि की रचना करता है, आकाश के रूप में वह सुर, असुर और ऋषयों सहित वायुमंडल को धारण करता है, कुलाचल होकर लोकपालों के नगर को धारण करता है, भूमि होकर सारे लोकों को धारण करता है, जल का आकार धारण करके वह दौडता है, आग का आकार धारण करके वह जलता है, तेज होकर आकाश बनता है, पर्वत होकर रूकावट पैदा करता है, चेतन होकर चेतन जीवों को उत्पन्न करता है और जड होकर जड वस्तुओं को, समुद्र होकर वह सिवली की तरह पृथ्वी को घेरता है, परम सूर्य होकर प्रकाश को फैलाता है, तीनों जगत् के परमाणुरूप से वह शान्ति में स्थित रहता है, जो कुछ भी यह जगत् दिखाई पडा है, पडता है, या दिखाई देगा – अर्थात् तीनें कालों में दिखाई देनेवाले दृश्य जगत्– सब कुछ वही है । हे राम, इस अवस्था का नाम मुक्ति है । इसी को ब्रह्म कहते हैं । यही पूर्ण से भी परिपूर्ण स्वरूपवाला निर्वाण कहलाता है ।

दर्शन एवं धर्म विभाग **डॉ. मनोज कुमार तिवारी**
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

टिप्पणियाँ

१. उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः ।
तथैव ज्ञानकर्माभ्यां जायते परमं पदम् ॥ योगवासिष्ठ, १.१.७
केवलात्कर्मणो ज्ञानान्नहि मोक्षोऽभिजायते ।
किंतूभाभ्यां भवेन्मोक्षः साधनं तूभयं विदुः ॥ वही, १.१.८

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२. प्रक्षीणवासना येह जीयतां जीवनस्थितिः
अमुक्तैरपरिज्ञाता सा जीवन्मुक्ततोच्यते ॥ वही, ३.२२.८

३. गेहमेवोपशान्तस्य विजनं दूरकाननम् ।
अशान्तस्याऽप्यरण्यानि विजना सजना पुरी । वही, ६.२.३.३८

४. श्रीमद्भगवद्गीता, २.५५-५८

५. न सुखाय सुखं यस्य दुःखं दुःखाय यस्य नो ।
अन्तर्मुखमतेनित्यं स मुक्त इति कथ्यते ॥ ६.२.१६९.१

६. नोदेति नास्तमायाति सुखे दुःखे मुखप्रभा ।
यथा प्राप्तस्थितेर्यस्य जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥ वही, ३.९.६
रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि ।
योऽन्तर्व्योमवदच्छस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ वही, ३.९.८

७. मूढं चित्तं चित्तमाहुः प्रबुद्धं सत्त्वमुच्यते । वही, ६.२.१०१.३१
भूयः प्रजायते चित्तं सत्त्वं भूयो न जायते ॥

८. विवेविशदं चेतः सत्त्वमित्यभिधीयते ।
भूयः फलति नो मोहं दग्धबीजमिवाऽङ्कुरम् ॥ वही, ६.२.२.४७

९. असंसङ्गेन भोगानां सर्वा राम विभूतयः ।
परं विस्तारभायान्ति प्रावृषीव महापगाः । वही, ५.६८.४९

१०. जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा देहे कालवशीकऽते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥ यो. वा. ३.९.१४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थनिर्णय के भारतीय और पाश्चात्य सिद्धांत : तुलनात्मक विमर्श

भाषा के दो पक्ष हैं - १) अभिव्यक्ति पक्ष और २) अभिव्यक्त पक्ष । आधुनिक परिभाषिक में इन्हें क्रमशः संकेतक (Signifier) और संकेतित (Signified) कहते हैं । इन्हें क्रमशः 'रूप पक्ष' और 'गुण पक्ष' भी कहा जाता है । इनमें 'अभिव्यक्त पक्ष', 'संकेतित' और 'गुण पक्ष' ही अर्थ है । अर्थ-निर्णय के सिद्धांतों पर भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से विचार किया है । भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट अर्थ-निर्णय के सिद्धांतों को 'भारतीय-संदर्भ' और 'पाश्चात्य-संदर्भ' के अंतर्गत विवेचित किया जा सकता है। अतः यहाँ दोनों ही दृष्टिकोण–'भारतीय-संदर्भ' और 'पाश्चात्य-संदर्भ'–विचारणीय योग्य हैं ।

भारतीय-संदर्भ :

भारतीय भाषा-दार्शनिकों में मुख्य रूप से आचार्य भर्तृहरि, जगदीश और विश्वनाथ ने अर्थ-निर्णय के सिद्धांतों पर विचार-विमर्श किया है । यहाँ आचार्य भर्तृहरि, जगदीश और विश्वनाथ के द्वारा निर्दिष्ट अर्थ-निर्णय के सिद्धांत द्रष्टव्य हैं–

भर्तृहरि द्वारा निर्दिष्ट सिद्धांत :

आचार्य भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीयम्' में अर्थ-निर्णय का निम्नलिखित सिद्धांत निर्दिष्ट किया है–[१]

> "संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता ।
> अर्थः प्रकरणं लिङ्ग शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
> सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
> शब्दास्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

उक्त सिद्धांत के अनुसार संयोग, विप्रयोग (वियोग), साहचर्य, विरोधता (विरोधी भावना), अर्थ (प्रयोजन), प्रकरण (विषय-प्रसंग), लिंग (साधारण धर्म), अन्य शब्दसन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य (योग्यता), देश (स्थान विशेष), काल, व्यक्ति (लिंग-संदर्भ) और स्वर इत्यादि घटक-तत्त्वों के आधार पर ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थ-निर्णय होता है । इस सिद्धांत की व्याख्या निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है–

१. संयोग : जब किसी अनेकार्थी शब्द का अर्थ उसके साथ प्रयुक्त होने वाले दूसरे शब्दों के आधार पर निर्धारित हो, तो वहाँ 'संयोग' नामक घटक-तत्त्व होता है । जैसे - 'गो' शब्द के अनेक अर्थ हैं गाय, प्रकाश, वाणी, ज्ञान, इंद्रिय, ममता और पृथ्वी आदि । परंतु जब 'सवत्सा गो' का संयोग हो, तो इसका अर्थ 'गाय' होगा । इसी प्रकार 'सारंग' शब्द अनेकार्थी है । इसके विभिन्न अर्थ हैं- विष्णु, कामदेव, वीथी, सूर्य, चंद्र, बाज, मोर, कोयल, पपीहे, भ्रमर, घोड़ा, मृग, खंजन, साँप, पृथ्वी और कृष्ण इत्यादि । परंतु 'प्रकाश पुंज सारंग' कहने पर इसका अर्थ 'सूर्य' ही होगा, क्योंकि इसे प्रकाश पुंज का संयोग प्राप्त है । इसी तरह हरि शब्द भी द्रष्टव्य है । इसके अनेक अर्थ हैं - वानर, सिंह, विष्णु इत्यादि । पर द्रौपदी की प्रार्थना - 'हे हरि, 'मेरी लाज रख लो।' इस वाक्य में 'हरि' शब्द का अर्थ कृष्ण होगा ।

२. विप्रयोग : परस्पर पास रहने वाले व्यक्तियों या पदार्थों का अलगाव ही 'विप्रयोग' है । यह भी अर्थ निर्णय का संघटक है । इसके आधार पर अर्थ-निर्णय सरल हो जाता है, जैसे, 'नग बिन सुनी मुद्रिका । ' यहाँ 'नग' के वियोग से मुद्रिका के सूने होने के कारण 'नग' का अर्थ - 'नगीना' ही होगा, पर्वत नहीं।

३. साहचर्य : साहचर्य से अभिप्राय है - साथ । जिस प्रकार व्यक्ति के साहचर्य से व्यक्ति के गुणों-अवगुणों में परिवर्तन आता है, उसी प्रकार शब्द के साहचर्य से समीपस्थ शब्द के अर्थ में परिवर्तन होता है । जैसे - निर्गुण राम, बलराम, परशुराम और दशरथपुत्र राम इत्यादि । यहाँ 'राम' शब्द विभिन्न शब्दों के साहचर्यवश भिन्न अर्थ दे रहा है ।

४. विरोधिता : विरोधिता का सीधा अर्थ है - विपरीतता । जब दो व्यक्ति अथवा पदार्थ विपरीत स्वभाव वाले होते हैं, तो उनमें अर्थ-निर्णय आसान हो जाता है- जैसे 'आग और पानी' । आग के साथ जब 'पानी' शब्द का प्रयोग किया जाएगा तो इसका अर्थ - जल । जबकि 'पानी' शब्द का अर्थ इज्जत और चमक भी होता है । इसी प्रकार 'राम-रावण' कहने पर राम का अर्थ 'दशरथपुत्र राम' ही होगा ।

५. अर्थ (प्रयोजन): कई बार अर्थ का निर्णय प्रयोजन से भी किया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाता है । जैसे - 'मेहनत करोगे तो अच्छा फल मिलेगा ।' इस वाक्य में 'अच्छा फल' किसी वृक्ष का फल नहीं है, अपितु 'परिणाम' है । इसी प्रकार 'हरि ही हमें भवसागर से पार लगा सकते हैं' । यहाँ संसार से मुक्ति के प्रयोजन वा 'हरि' शब्द का अर्थ 'ईश्वर' ही लिया जाएगा, भले ही 'हरि' शब्द के ईश्वर, सूर्य, चाँद, घोड़ा, साँप, मेंढ़क आदि अनेक अर्थ हैं ।

६. प्रकरण : कई बार अर्थ की घटीयता प्रकरण पर निर्भर करती है । प्रकरण अथवा प्रसंग शब्दों के अर्थ में बदलाव लाता है । इसलिए अर्थ-निर्णय का यह भी महत्त्वपूर्ण घटक-तत्त्व है । जैसे -'गोली' शब्द को लें और इसके विभिन्न प्रयोग देखें।

'गोलियाँ खेल रहे हो ।'

'बाजार में दोनो तरफ से गोलियाँ चलने लगी ।'

'गोली खा के तुम स्वस्थ हो जाओगे ।'

पहले वाक्य में बच्चों द्वारा गोलियाँ खेलने के कारण यहाँ गोलियों का अर्थ - 'काँच की गोलियाँ' है । दूसरे वाक्य में बन्दूक की गोली चलने का प्रसंग है और तीसरे वाक्य में गोली का अर्थ दवा है।

७. लिंग : लिंग का शाब्दिक अर्थ है - चिह्न । जब किसी शब्द से विशेष प्रकार का अर्थ चिह्नित होता है तो अर्थ-निर्णय आसान हो जाता है । जैसे- आकाश में घनश्याम घिर आये हैं । 'घनश्याम' शब्द के दो अर्थ हैं - कृष्ण और बादल । परन्तु 'घिर आए हैं' के क्रिया-चिह्न के आधार पर यहाँ 'बादल' का अर्थ-बोध होता है, कृष्ण का नहीं ।

८. अन्य शब्द सन्निधि : कई बार शब्दों का अर्थ उनके साथ प्रयुक्त होने वाले अन्य शब्दों के सन्निध्य के आधार पर घटित होता है । जैसे 'सूर-श्याम' कहने से महाकवि सूरदास की शब्द सन्निधि वश श्री कृष्ण का ही अर्थबोध होता है, जबकि 'श्याम' शब्दं का एक अर्थ 'काला' भी है ।

९. सामर्थ्य : सामर्थ्य का शाब्दिक अर्थ है- शक्ति । कई बार शब्द का अर्थ सामर्थ्य के आधार पर घटित होता है। जैसे - 'तुम बड़ विशाल हृदय वाले हो' । यहाँ पर 'विशाल' शब्द का अर्थ 'बहुत बड़ा' न होकर 'व्यापक' है । फलतः विशाल हृदय का अर्थ - 'दयालु' है । इसी प्रकार 'चरण कमल बन्दी हरि राई । जाकी कृपा पंगु गिरि लंघे, अंधे को सब कुछ दरसाई ॥' 'हरि' शब्द अपने विभिन्न अर्थों को छोड़कर विष्णु भगवान् का द्योतक बन गया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, क्योंकि भगवान् में ही इतनी सामर्थ्य है कि पंगु को पर्वत पार करा दे और अंधे को दिव्य दृष्टि दे दें ।

१०. औचित्य : औचित्य अर्थ के घटक-तत्त्वों में सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, क्योंकि शब्द के अनेक अर्थों में कौन सा अर्थ उचित है, इसका निर्णय केवल औचित्य के आधार पर ही संभव है । जैसे- 'देश संकट से घिरा है, इसकी रक्षा के लिए गोली भी खानी पडे तो पीछे नहीं हटेंगे ।' यहाँ गोली शब्द का अर्थ बन्दूक की गोली उचित है, न कि डॉक्टर की गोली, जबकि शब्द एक ही है ।

११. देश : जब अर्थ किसी विशेष-स्थान के आधार पर घटित हो तो वहाँ 'देश' का अर्थ घटक-तत्त्व बन जाता है । उदाहरण के लिए 'ठाकूर' और 'नोट' शब्दों को लिया जा सकता है । 'ठाकूर' शब्द का अर्थ कहीं 'ब्राह्मण है तो कहीं राजपूत और कही पे नाईं । इसी प्रकार 'नोट' शब्द के अर्थ में भी स्थान के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तन होता है । जैसे- किसी दूकानदार के लिए 'नोट' का अर्थ है - 'रुपये' और विद्यार्थि के लिए अध्यापक द्वारा दिए गए व्याख्यान का लिखित रूप ।

१२. काल : जब अर्थ समय के आधार पर घटित होता हो, तो उसे काल-संदर्भ कहते हैं। जैसे - वैदिक काल में 'असुर' शब्द का अर्थ देवता था, परंतु अब 'असुर' शब्द राक्षस के लिए प्रयुक्त होता है । इसी प्रकार पहले 'गवेषणा' शब्द का अर्थ था - 'गाय की खोज' परंतु आज शोध के लिए प्रयुक्त होगा है । इनके अतिरिक्त मधुमत्त कोकिल भी इसका दृष्टान्त है । यहाँ मधुर का अर्थ वसंत ऋतु होगा । (जब कि मधु का अर्थ शहद या मदिरा भी होता है), क्योंकि कोकिल वसंत ऋतु में ही मत्त होती है ।

१३. व्यक्ति : 'व्यक्ति' अभिप्राय शब्द के 'पुल्लिंग' अथवा 'स्त्रीलिंग' बोध से है । कई बार शब्द के पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग होने से ही स्पष्ट होता है । जैसे - 'क्या तुमने टीका लगवा लिया है ?' - पुल्लिंग, 'यह रामचरित मानस की अच्छी टीका है' - स्त्रीलिंग । पहले वाक्य में 'टीका' शब्द का अर्थ माथे का टीका है, जबकि दूसरे टीका का अर्थ है व्याख्या (भाष्य) ।

१४. स्वर : कई बार अर्थ-निर्णय का आधार हमारी उच्चारण-स्थिति बनती है । स्वरों के आरोह, अवरोह से उसकी वक्रता से अर्थ में जमीन-आसमान का अंतर पड जाता है जैसे -

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'वह करोडपति बन गया ।'– सामान्य
'वह ! करोडपति बन गया ।'– आश्चर्य
'वह करोडपति बन गया ?'– प्रश्न

जगदीश द्वारा निर्दिष्ट सिद्धांत :

जगदीश ने 'शब्द शक्ति-प्रकाशिका' में अर्थ-निर्णय का निम्नलिखित सिद्धांत प्रस्तुत किया है -[२]

"शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सन्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

इस सिद्धांत के अनुसार अर्थ का निर्णय व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष (प्रकरण), विवृत्ति (व्याख्या) और प्रसिद्ध पद का सान्निध्य - जैसे घटक-तत्त्वों के आधार पर ही संभव है । इसका विस्तृत रूप अग्रप्रस्तुत है-

१. व्याकरण : अर्थ-निर्णय में व्याकरण बहुत महत्त्वपूर्ण है । यदि कोई व्यक्ति 'पढ़ना' या 'सोना' शब्दों का अर्थ जानता है, किंतु उसे कही 'पढ़ा' या 'सोया' शब्द मिल जाते हैं, तो कोश इन शब्दों का अर्थ देने में असमर्थ होगा, क्योंकि कोश में किसी शब्द के विभक्ति रूप या काल रूप नहीं मिलेंगे । ऐसे रूपों का अर्थ व्याकरण की सहायता से ही ज्ञापित होता है । व्याकरण ही विविध व्याकरणिक कोटियों पर विचार करता है । व्याकरण ही 'वासुदेव' और 'दाशरथि' जैसे शब्दों का अर्थ स्पष्ट करता है । 'वासुदेव' का अर्थ वसुदेव का पुत्र और 'दाशरथि' का अर्थ दशरथ का पुत्र निर्दिष्ट करता है ।

२. उपमान : उपमान सादृश्यता अथवा समानता को कहते हैं । कई बार अर्थ सीधे संघटित न होकर सादृश्य के आधार पर निर्दिष्ट होता है । जैसे - गाय के बारे में जानने वाले बच्चे को गाय जैसी 'नीलगाय' कह कर नीलगाय का अर्थ बताया जाता है । बच्चा जब कभी जंगल में जाता है, तो वहाँ गाय से समता रखने वाले पशु को देखकर सादृश्य के आधार पर निर्णय कर लेता है कि वह नीलगाय ही है ।

३. कोश : अर्थ-निर्णय में कोश महत्त्वपूर्ण है । भाषा में कई शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ हम नहीं जानते, या उसे सुनिश्चित नहीं कर पाते हैं । उसके लिए कोश का सहारा लेना पड़ता है । ऐसे शब्दों के ठीक अर्थ का निर्णय करने के लिए कोश महत्त्वपूर्ण है । जैसे - 'कारण-जाम पिये' में कारण का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थ 'शराब' है, वह कोश द्वारा ही ज्ञातव्य है । पर कोश यह बताने में असमर्थ है कि संदर्भ विशेष में किसी शब्द का कौन-सा अर्थ लिया जाए और कौन-सा नहीं, यहाँ अर्थ दूसरे घटक-तत्त्वों पर निर्भर करता है । जैसे 'अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध' अब 'हरि' शब्द के अनेक अर्थ हैं - वानर, कृष्ण, विष्णु, सिंह, ईश्वर, सूर्य, चाँद, घोड़ा, मेंढ़क, साँप इत्यादि । कोश इनका उल्लेख मात्र करता है, पर यहाँ शब्द सानिध्य से इसका अर्थ सिंह निर्दिष्ट होता है ।

४. आप्त वाक्य : आप्त से अभिप्राय है - 'विश्वसनीय वक्ता' । अर्थात् जो कोई कथन कहते हुए अपनी ओर से उसमें कुछ भी सम्मिलित न करे और न ही उसमें से कुछ छोड़ । अभिप्राय यह कि जिस पर सदैव विश्वास किया जा सके और जिसका कथन समाज में स्वीकृत तथा स्वीकार्य हो । ऐसे महान् व्यक्तित्व के कथन को आप्तवाक्य कहा जाता है । जैसे- ईश्वर, परमात्मा, भगवान्, अल्लाह, वाहिगुरु (गॉड), आत्मा, स्वर्ग, नरक, धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप, सच, और झूठ जैसे शब्दों का अर्थ जब किसी भक्त या दार्शनिक द्वारा निर्दिष्ट होता है तब उसे 'आप्तवाक्य' कहते हैं ।

५. व्यवहार : व्यवहार अर्थ-निर्णय का सबसे व्यापक और महत्त्वपूर्ण घटक-तत्त्व है । सर्वप्रथम बच्चा अपने परिवार और समाज से व्यवहार के माध्यम से ही अर्थ-बोध प्राप्त करता है । इसके अतिरिक्त सामान्य भाषा-प्रयोजन के लिए भी शब्दार्थ ज्ञान में व्यवहार महत्त्वपूर्ण घटकतत्त्व है । जैसे - हम मिट्टी के बरतन बनाने वाले को जाकर कहते हैं कि चार घड़ बना देना, तो वह बना देता है । पर आदेश शब्दार्थ के संदर्भ में नहीं होता है । आज यंत्र, पलांडू, पापर्ट, स्थापत्य, अंकनी और स्वेदक जैसे शब्द कोश में तो हैं, पर इनका व्यवहार नहीं है । अतः ये प्रायः हिंदी भाषा-भाषी समुदाय में अर्थहीन हैं । ये शब्द प्रचलन में नहीं हैं जबकि इनके लिए व्यवहृत इंजन, प्याज, पापड, स्टेशन, पेंसिल और स्वेटर का अर्थ किसी के लिए भी अज्ञात नहीं है।

६. वाक्यशेष (प्रकरण) : वाक्यशेष का अर्थ है - 'प्रकरण' । जब शब्द के विभिन्न अर्थ होने के कारण अर्थ का निर्णय न हो पाये तब वहाँ अर्थ प्रकरण के आधार पर संघटित होता है । जैसे - 'रस' शब्द अनेकार्थी है । इसके विभिन्न अर्थ हैं - नौ प्रकार के काव्य-रस, किसी वस्तु का रस, स्वरस, आनन्द, शरबत, छह प्रकार के आयुर्वेदिक रस इत्यादि । यहाँ प्रकरण ही इसके अलग-अलग अर्थ का निर्देश करता है । 'विभाव, अनुभाव और संचारी भावों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के संयोग से रस निष्पन्न होता है । 'यहाँ 'रस' का काव्यशास्त्रीय अर्थ स्वीकृत है । 'स्वामी जी की बातों में बहुत रस है ।' यहाँ रस का अभिप्राय है 'आनन्द'। 'सेब एक रसदार फल है ।' यहाँ रस का अर्थ है तो सेब का स्वरस । 'आज गर्मी बहुत ही रही, मैंने तो सारा दिन रस पीकर गुजारा।' यहाँ रस 'शरबत' का अर्थ देता है ।

७. विवृत्ति (व्याख्या) : विवृति का सीधा अर्थ है - 'व्याख्या' । बहुत सारे पारिभाषिक शब्द ऐसे होते हैं जिनका अर्थ एक शब्द में दे पाना असंभव है । उनके लिए विवरण देना या व्याख्या करना अनिवार्य हो जाता है। जैसे - 'विशेषण' शब्द को ही ले लीजिए । इसका अर्थ है - 'संज्ञा अथवे सर्वनाम की विशेषता बताने वाला शब्द ।' इसी प्रकार संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, क्रिया-विशेषण, कारक, उपसर्ग, प्रत्यय का एक शब्दीय अर्थ दे पाना असंभव है । इसी तरह दार्शनिक शब्दावली में अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, अभिव्यंजनवाद, अस्तित्ववाद, ईश्वरवाद इत्यादि शब्दों का अर्थ भी बिना व्याख्या के निर्दिष्ट नहीं हो सकता है । अतः विवृति को भी अर्थ-निर्णय का घटक-तत्त्व माना गया है।

८. प्रसिद्ध पद का सान्निध्य : सान्निध्य से अभिप्राय है - 'साहचर्य'। कई बार पढते समय बहुत सारे अज्ञात शब्द मिल जाते हैं । उनका अर्थ जानने के लिए हम सदैव कोश का उपयोग नहीं करते और आगे-पीछे के शब्दों के साहचर्य अथवा सहयोग से अर्थ ग्रहण कर लेते हैं । जैसे - उसकी वाणी पीयूषवर्षी है । यहाँ 'पीयूष' का अर्थ है - 'अमृत' । इसी आधार पर हम यह समझ लेते हैं कि उसकी वाणी बहुत 'मधुर' है । इसी प्रकार - 'बाग में गुलाब, चमेली, बेला, जूही और नरगिस की बहार देखने लायक थी ।' - यहाँ चमेली बेला, जूही और नरगिस किसी लड़की का नाम नहीं बल्कि फूलों के नाम हैं । इस बात की स्पष्टता हमें गुलाब के साहचर्य से प्राप्त है ।

विश्वनाथ द्वारा निर्दिष्ट सिद्धांत :

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में अर्थ-निर्णय का निम्नलिखित सिद्धांत दिया है - [३]

"वक्तृ-बोद्धव्य-वाक्यानामन्य सन्निधि-वाच्ययोः ।
प्रस्ताव-देश-कालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च ।
वैशिष्ट्यादन्यमर्थ या बोधयेत् सार्थसम्भवा ॥"

यह सिद्धांत अर्थ-निर्णय के वक्ता, श्रोता (बोद्धव्य), वाक्य, वाच्य, अन्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सन्निधि, प्रकरण, देश, काल, काकु और चेष्टा इत्यादि तत्त्व मानता है । इस सिद्धांत की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है —

१. वक्ता : वक्ता के आधार पर शब्द से अलग-अलग अर्थ की प्रतीति होती है । आशय यह है कि प्रयोक्ता के अलग होने से अर्थ में भिन्नता आ जाती है । जैसे- कोई माली अगर कहे कि, 'पत्ते काट दिये हैं' तो इसका अर्थ होगा कि वृक्षों के पत्ते काट दिये गए हैं । अगर कोई व्यापारी कहे कि 'अपने तो पत्ते कट गए !' तो इसका अर्थ होगा कि व्यापार में घाटा पड़ गया।

२. श्रोता (बोद्धव्य) : जिस प्रकार वक्ता की भिन्नता से अर्थ में भिन्नता आ जाती है, उसी प्रकार श्रोता की बौद्धिक क्षमता के अनुसार भी अर्थ में भिन्नता आती है । वक्ता द्वारा कहे गए शब्द का अर्थ श्रोता की बौद्धिक क्षमता पर आधारित होता है । जैसे - गुरु भक्त सिंह भक्त की पुस्तक 'नूरजहाँ' में जब सलीम नूरजहाँ से पूछता है तब वह उत्तर देती है - 'एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहाँ अपर है? उसने कहा - 'अपर' कैसा, वह उड़ गया सपर है ।'

३. वाक्य : शब्दों की तरह वाक्य भी अनेकार्थी होते हैं । अर्थ-निर्णय में वाक्य का अपना विशेष स्थान है । जैसे - 'वह युद्ध में जा रहा है ।' (सामान्य)

'वह ! युद्ध में जा रहा है ।' (आश्चर्य)

'वह युद्ध में जा रहा है ?' (प्रश्न)

यहाँ पहले वाक्य का अर्थ है कि कोई युद्ध में जा रहा है, दूसरे वाक्य में आश्चर्यचकित होकर कहा जा रहा कि कोई युद्ध में जा रहा है और तीसरे में प्रश्न किया जा रहा है । इसी प्रकार कई बार 'न' वाचक शब्दों का प्रयोग होने पर भी अर्थ 'हाँ' वाचक निकलता है । जैसे - 'मैंने कहा था न ।' इसका अर्थ है कि 'मैंने आपको पहले ही सूचित किया था ।'

४. वाच्य : वाच्य से अभिप्राय है - वक्तव्य । कई बार वक्ता के कथन का अभिप्राय अर्थ-निर्णय में सहायक होता है । जैसे - कोई कहे कि, 'खरगोश और कछुए की दौड़ में कछुआ विजयी रहा ।' यहाँ वक्ता का अभिप्राय है कि परिश्रमी की विजय हुई है और आलसी की हार ।'

५. अन्य सन्निधि : जब दो व्यक्ति आपस में बातचीत कर रहे हों तो कोई तीसरा बीच में आ जाए, तो उसे अन्य सन्निधि कहते हैं । ऐसे में एक चालाक वक्ता अपनी बात दूसरे को विशेष वाक्य-विन्यास के माध्यम से समझा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

देता है । तीसरा व्यक्ति यही समझता है कि वही आम बातचीत ही चल रही है और वह विशेष अर्थ से अपरिचित हो रह जाता है । जैसे - 'अभिज्ञानशाकुंतल' में दुष्यन्त और शकुंतला की बातें हो रही होती हैं, तब तक गौतमी आ जाती है । शकुन्तला वहाँ से घबराकर चल देती है और जाते समय लताओं से कहती है - 'हे सन्तापहारक लतामंडप ! परिभोग के लिए मैं तुम्हें फिर आमंत्रित करती हूँ।' इस वाक्य का अर्थ दुष्यंत और गौतमी दोनों के लिए अलग-अलग है । दुष्यन्त समझता है कि शकुंतला लतामंडप के बहाने उसे आमंत्रित कर रही है और गौतमी समझती है कि शकुंतला लतामंडप को संबोधन करके अपना उद्‌गार कर रही है ।

६. प्रकरण : प्रकरण का अर्थ है - प्रसंग । अर्थ-निर्णय में यह तत्त्व काफी महत्त्वपूर्ण है । जैसे - 'सैन्धवम् आनय' वाक्यांश जब घर में प्रयुक्त हो तो इसका अर्थ है - 'नमक लाओ।' परंतु यही वाक्यांश अगर अश्वशाला में प्रयुक्त हो तो इसका अर्थ होगा - 'घोड़ा लाओ।' इसी प्रकार अगर कोई कहे कि 'इसकी जिन्दगी में अंधेरा हो गया है ।' इसका अर्थ है कि उसकी सारी खुशियाँ छिन गई हैं ।

७. देश : देश का अर्थ है - स्थान । कई बार स्थान-विशेष के आधार पर अर्थ निर्धारित होता है । जैसे - 'घंटी बज गई' यह वाक्य अगर मंदिर में कहा जाए तो इसका अर्थ है - प्रार्थना का समय हो गया है । स्टेशन पर कहा जाए तो इसका अर्थ होगा - गाड़ी जाने वाली है और अगर स्कूल में कहा जाए तो इसका अर्थ होगा कि स्कूल लग गया अथवा छुट्टी हो गई है । इसी प्रकार अस्पताल में अगर कोई बीमारी से जूझ रहा हो तो ऑप्रेशन के बाद कोई आकर कहे कि उसकी तो घंटी बज गई - इसका अर्थ होगा कि रोगी भगवान् को प्यारा हो गया है ।

८. काल : कई बार काल के अनुसार अर्थ निर्धारण होता है । जैसे- स्कूल में सुबह बजने वाली घंटी दोपहर को बजने वाली घंटी और शाम को बजने वाली घंटी के अर्थ में भिन्नता है । सुबह बजने वाली घंटी का अर्थ है- 'स्कूल लग गया है', दोपहर को बजने वाली घंटी का अर्थ है - 'आधी छुट्टी हो गई है' और शाम को बजने वाली घंटी का अर्थ है - 'पूरी छुट्टी हो गई है।'

९. काकु : काकु से अभिप्राय वक्ता के उच्चारण में स्वरों के आरोह-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अवरोह से है । जब कोई वक्ता इस आधार पर बातचीत करता है तो अर्थ में भिन्नता आती है । जैसे - क्या बात है ? (सामान्य), क्या बात है ! (आश्चर्य), क्या बात है? (गुस्सा) पहले वाक्य का अर्थ है - 'आपको क्या हुआ है ?' दूसरे से अभिप्राय है - 'आपके तो रंग-ढंग ही बदले हैं' और तीसरे का अर्थ है 'तुम यहाँ क्यों आए हो ?'

१० चेष्टा : चेष्टा से अभिप्राय 'जब हम अपनी बात मुख-भंगिमा के साथ-साथ शरीर के दूसरे अंगों, जैसे - हाथों, आँखों आदि के सहयोग से पूरी तरह से श्रोता को समझानी चाहते हैं ।' भाव-प्रवाह में अंगों की स्वाभाविक चेष्टा से जहाँ भावाभिव्यक्ति में स्पष्टता आती है, वहीं गंभीरता भी आती है । जैसे - एक अध्यापक अपने विद्यार्थियों को चुप कराने के लिए अपने होंठों पर उँगली रखकर कहे कि चुप हो जाओ ।

पाश्चात्य-संदर्भ

अर्थ-निर्णय के विषय में जहाँ भारतीय भाषा दार्शनिकों का गहन और व्यापक चिंतन प्राप्त होता हैं वहीं पाश्चात्य विद्वानों ने भी अर्थ-निर्णय के भिन्न-भिन्न सिद्धांत निश्चित किए हैं । यद्यपि इनमें किसी भी एक सिद्धांत को अर्थ-निर्णय के विषय में पूर्णता प्राप्त नहीं है तथापि इनका अपना महत्त्व है । यहाँ इन सिद्धांतों का परिचयात्मक विवेचन किया जा रहा है ।[४]

१) अभिधेयात्मक सिद्धांत (Denotative Theory of Meaning), २) बिंब सिद्धांत (Image Theory of Meaning), ३) अवधारणात्मक सिद्धांत (Concept Theory of Meaning), ४) चित्र-सिद्धांत (Picture Theory of Meaning), ५) कारणात्मक सिद्धांत (Causal Theory of Meaning) ६) सत्यापन सिद्धांत (Verification Theory of Meaning), ७) व्यवहार सिद्धांत (Use Theory of Meaning), ८) वचन कर्म सिद्धांत (Speech-Act Theory of Meaning)

१) अभिधेयात्मक सिद्धांत (Denotative Theory of Meaning) इस सिद्धांत के अनुसार किसी भी नाम (शब्द) का अर्थ उसको धारण करनेवाला व्यक्ति या पदार्थ होता है । इस सिद्धांत का पूर्वानुमान बर्ट्रेन्ड रसेल (Bertrand Russell) और स्ट्रॉसन (Strawson) ने किया था ।[५] जैसे - 'ताजमहल' शब्द का अर्थ है -'ताजमहल', जो आगरा में स्थित है । पर ताजमहल का मॉडल (धातुओं /पत्थर) या उसका चित्र भी ताजमहल का ही अर्थ देता है । फ्रेग

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(Frege) बताता है कि दो शब्द जो अपने भाव और अर्थ में भिन्नता जताते हैं, वे किसी एक ही पदार्थ को निर्दिष्ट कर सकते हैं । जैसे- 'प्रभात तारा' और 'सांध्य तारा' । ये दोनों ही शब्द अलग-अलग अर्थ के धारक हैं, परंतु ये दोनों ही 'शुक्र' तारे के लिए प्रयुक्त होते हैं। पहले शब्द का अर्थ प्रभात काल में उदित होने वाला तारा और दूसरे का अर्थ संध्या काल में उदित होने वाला तारा है ।[६]

२) बिंब सिद्धांत (Image Theory of Meaning) इस सिद्धांत के प्रवर्तक एडवर्ड सपीर (Edward Sapir) हैं । उनके अनुसार 'किसी भी शब्द का अर्थ, उसका बिम्ब होता है ।'[७] यह सिद्धांत हमारी उन मुश्किलों को भी आसान करता है, जो अभिधेयात्मक सिद्धांत से समाधान नहीं प्राप्त कर पाती हैं । यह सिद्धांत वर्णन करता है कि हम किस प्रकार अर्थपूर्ण बातचीत कर सकते हैं । इसके अनुसार शब्द का अर्थ उसको बोलने वालों और सुनने वालों के लिए सदा समान नहीं रहता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति किसी विशेष शब्द का अपने मानस (मन) में अलग-अलग बिम्ब रखता है । यहाँ प्रत्येक व्यक्ति शब्द को अपने साहचर्य के अनुरूप अर्थ देता है । जैसे - 'गुलाब' का फूल देखकर किसी को प्रसन्नता होती है और अपने प्रेमी की याद आती है तो दूसरी तरफ यही 'गुलाब' का फूल किसी असफल प्रेमी को उसके कटु अनुभव और प्रेम की विफलता की याद दिलाता है । एक के लिए गुलाब सुखकारी है तो दूसरे के लिए दुःखकारी । इसी प्रकार मेघ को आकाश में देखकर पास-पास रहने वाले पति-पत्नी को आनंद का अहसास होता है, पर दूसरी तरफ जो पति-पत्नी एक दूसरे के काफी दूर रहते हैं उनके लिए वही 'मेघ' पीड़ा का कारण बनता है । अरस्तु कहता है कि, "हमारी उच्चारित ध्वनियाँ हमारी आत्मा की स्नेहल भावना की प्रतीक हैं ।" ऐसे में उसका अभिप्राय है कि किसी शब्द का अर्थ उसका सामान्य बिम्ब भर नहीं है, बल्कि उसके साहचर्य से श्रोता के भीतर जो बिम्ब उभरते हैं - वही उसका अभीष्ट अर्थ है ।

३) अवधारणात्मक सिद्धांत (Concept Theory of Meaning) कुछ दार्शनिकों का मानना है कि, "शब्द का अर्थ उसकी अवधारणा है ।" वे मानते हैं कि इस संसार में चार आयामों वाला कोई बिम्ब नहीं है, परंतु वे इस बात से सहमत हैं कि शब्दों के अर्थ चार-आयामों वाले होते हैं, जिन्हें हम 'अवधारणा' कह सकते हैं । अर्थात् शब्द के अर्थ के विभिन्न आयाम हो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सकते हैं । इस सिद्धांत का उल्लेख जोसेफ (H.W.B. Joseph) की पुस्तक Introduction To Logic में हुआ है।[८] परंतु अब इस सिद्धांत को उतनी महत्ता और मान्यता प्राप्त नहीं है । अगर हम कहें कि किसी व्यक्ति के दिमाग में कोई अवधारणा है तो इसका अर्थ है कि, 'किसी शब्द के प्रयोक्ता और सुनने/पढने वाले, सबकी अवधारणा अलग-अलग होगी ।' पर इतना तो मानना ही पड़गा कि शब्दों के अर्थ दो प्रकार के होते हैं - पदार्थ,व्यक्तिपरक अर्थ और अवधारणात्मक अर्थ । यहाँ अवधारणात्मक अर्थ वाले शब्दों में श्रद्धा, प्रेम और सौंदर्य को लिया जा सकता है ।

४) चित्र-सिद्धांत (Picture Theory of Meaning) इस सिद्धांत के अनुसार अकेला शब्द अर्थ देने में सक्षम नहीं होता, बल्कि वाक्य संरचना द्वारा ही वह अपना पूर्ण अर्थ दे पाता है । इस सिद्धांत का उल्लेख विट्गेन्स्टाइन (Wittgenstein) ने अपनी पुस्तक Tractatus Logico-Philosophicus में किया था ।[९] परंतु बाद में इस सिद्धांत को उसी ने स्वयं अमान्य कर दिया और अब यह केवल ऐतिहासिक सिद्धांत बन कर रह गया है।

५) कारणात्मक सिद्धांत (Causal Theory of Meaning) इस सिद्धांत के प्रवर्तक सी. एल. स्टीवेन्सन (C.L. Stevenson) हैं ।[१०] यह सिद्धांत कारण-कार्य-नियम पर टिका हुआ है । जैसे - अगर कोई कहे कि, 'काले बादल उमड़ रहे हैं', तो इसका अर्थ हुआ कि बरसात होने वाली है । अर्थात् कार्य होने से पूर्व कारण सामने आ गया । जैसे - मैं घर के अंदर कहूँ कि, 'मैंने बेटे को छाता ले जाते देखा है', तो इसका अभिप्राय है कि वर्षा होने वाली है । परंतु कई बार 'काले बादल' होने के बावजूद बरसात नहीं होती और कोई बिना बरसात के भी छाता लेकर जा सकता है । ऐसी दृष्टांत स्थिति में यह सिद्धांत खण्डित होता दिखता है । परंतु अगर कोई कहे कि, 'धुआँ उठ रहा है', तो इसका अर्थ हुआ कि वहाँ आग जल रही है । यह दृष्टांत कभी खंडित नहीं हो सकता । ऐसा कभी नहीं हो सकता कि धुआँ उठे और आग न जली हो ।

६) सत्यापन सिद्धांत (Verification Theory of Meaning) सत्यापन सिद्धांत के अनुसार कोई वाक्य किसी व्यक्ति के लिए वास्तविक रूप में तभी अर्थपूर्ण हो सकता है, जब वह यह सत्यापित कर ले कि 'वह सच है या झूठ' । दूसरे शब्दों में कोई भी वाक्य तभी अर्थपूर्ण है जब उसके सही या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गलत होने के बारे में पता चल जाए । उदाहरण के लिए 'भगवान् स्वर्ग में हैं', और 'सुमित अपने घर में है' । इन दोनों वाक्यों का अगर सत्यापन किया जाए तो पहला वाक्य केवल संवेदना मात्र प्रतीत होता है, जबकि दूसरा सत्य, क्योंकि वह पर्यवेक्षणीय और सत्यापनीय है । इसलिए पहला वाक्य दूसरे के मुकाबले सत्यापनीय नहीं प्रतीत होता है । इस सिद्धांत को देने वाले ए. आर,. व्हाईट (A.R. White) हैं ।[११]

७) व्यवहार सिद्धांत (Use Theory of Meaning) व्यवहार सिद्धांत का उल्लेख विट्गेन्स्टाइन ने अपनी पुस्तक Philosophical Investigation में किया है ।[१२] इस सिद्धांत के संस्थापक Christensen हैं। इस सिद्धांत के अनुसार किसी भी शब्द का अर्थ भाषा में उसकी प्रयोग -स्थिति पर निर्भर करता है । एक भारतीय उदाहरण लें - 'गतोऽस्तमर्कः ।' इस वाक्य का प्रयोग जब कोई गुरु गुरुकुल में करता था, तो इसका अर्थ था कि अब पढना बंद कर दो, क्योंकि सूर्य अस्त हो रहा है । दूसरे, जब कोई तस्करों का सरदार इस वाक्य का प्रयोग करता था तो इसका अर्थ था रात होने वाली है, तस्करी करने के लिए तैयार हो जाओ । तीसरे, जब कोई व्यक्ति अपने घर में इस वाक्य का प्रयोग अपनी पत्नी से करता था, तो इसका अर्थ है - रात होने वाली है, दिया जलाओ । चौथे, जब कोई टोली जंगल से गुजर रही होती और वह इसका प्रयोग करती, तो इसका अर्थ था, अब आगे जाना ठीक नहीं यहीं डेरा डाल लेना चाहिए । इसी प्रकार 'सैन्धवम् आनय' वाक्यांश को भी लिया जा सकता है । अगर कोई इसका प्रयोग घर में करे तो 'सैन्धव' का अर्थ 'नमक' होगा और अगर यही वाक्यांश 'तबेले' (अश्वशाला) में कहा जाए तो 'सैन्धव' का अर्थ 'घोड़ा' होगा । इसी तरह प्रयोग शब्द को भी लिया जा सकता है । 'प्रयोग' शब्द के 'व्यवहार', 'घोड़ा', 'ऋषि का नाम' और 'नाटक' इत्यादि विभिन्न अर्थ हैं, परंतु इनमें से इस शब्द का कौन-सा अर्थ लिया जाए, यह तो इस शब्द के भाषा में व्यवहृत होने पर ही निर्भर होगा । इसी प्रकार 'कारण' शब्द को लिया जा सकता है। इसका एक अर्थ है - 'शराब' जैसे - 'क्या कारण हैं ?' और 'तुम्हारे पास कारण है ।' दोनों वाक्य देखने में एक जैसे ही लगते हैं, परंतु पहले वाक्य का अर्थ है, 'क्या बात है ?' और दूसरे का अर्थ है - 'क्या तुम्हारे पास शराब है ?'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

८) वचन कर्म सिद्धांत (Speech-Act Theory of Meaning) इस सिद्धांत के निर्माता Austin हैं $& J. Searle इस सिद्धांत पर विचार करते हुए भाषा के अंतर्गत तीन प्रकार के कर्म मानते हैं[१३] - भाषिक वचन कर्म (Locutionary Act), भाषेतर वचन कर्म (Illocutionary Act) और अनुपालक वचन कर्म (Perlocutionay Act) ।

भाषिक कर्म (Locutionary Act) के आधार पर हम वाक्य में प्रयुक्त शब्द अथवा शब्दांश - संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण, कारक, उपसर्ग और प्रत्यय तथा वाक्य संरचना आदि की पहचान करते हैं। उसके अनुसार ही अर्थ लिया जाता है ।

भाषेतर कर्म (Illocutionary Act) में भाषिक इकाइयों की वृत्तिकता को महत्त्व दिया जाता है । जैसे - आज्ञा, अनुरोध, अपेक्षा, चुनौती, धमकी, दावा, निंदा, प्रार्थना, खीझ, क्रोध, प्रेम और प्रेरणा आदि का होने वाला ज्ञापन। उदाहरण के लिए - 'मैं तुम्हें देख लूँगा' वाक्य 'धमकी' का उदाहरण है ।

अनुपालक वचन कर्म (Perlocutionay Act) में कहे गए कथन को अनुपालित किया जाता है । एक ग्लास पानी माँगने पर ग्लास में पानी लाकर देना इस वचन कर्म का उदाहरण है ।

भारतीय और पाश्चात्य संदर्भों का तुलनात्मक विमर्श :

भारतीय आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट अर्थ-निर्णय के सिद्धांतों के तुलनात्मक विमर्श से ज्ञापित होता है कि भर्तृहरि और जगदीश द्वारा निर्दिष्ट 'अर्थ' के 'प्रकरण', 'अन्य शब्द सन्निध्य' घटक तत्त्व जहाँ दोनों में समता दर्शाते हैं, वही 'संयोग', 'विप्रयोग', 'साहचर्य', 'विरोधता', 'अर्थ' (प्रयोजन) 'लिंग', 'सामर्थ्य', 'औचित्य', 'देश', 'काल', 'व्यक्ति', 'स्वर', 'व्याकरण', 'उपामान', 'कोश', 'आप्तवाक्य', 'व्यवहार' और 'विवृत्ति (व्याख्या)' जैसे घटक तत्त्व दोनों में असमान हैं ।

दूसरी ओर भर्तृहरि और आचार्य विश्वनाथ द्वारा निर्दिष्ट अर्थ-निर्णय के सिद्धांतों के तुलनात्मक विमर्श से भी समानता, असमानता के दर्शन होते हैं, परंतु आचार्य विश्वनाथ ने 'वाक्य', 'वाच्य' और 'चेष्टा' जैसे घटक-तत्त्वों को छोड शेष सारे घटक-तत्त्व आचार्य भर्तृहरि वाले ही माने हैं । इस तरह भर्तृहरि और विश्वनाथ में समानता अधिक है और असमानता कम ।

जगदीश और विश्वनाथ में असमानता अधिक और समनता कम है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वाक्य, प्रकरण और अन्य सन्निधि के अलावा शेष सारे घटक-तत्त्व भिन्न हैं ।

भारतीय और पाश्चात्य संदर्भों के तुलनात्मक विमर्श से ज्ञात होता है कि अर्थ-निर्णय के सिद्धांतों पर जहाँ भारतीय भाषा-दार्शनिकों का गहन और व्यापक चिंतन प्राप्त होता है वहाँ पाश्चात्य विद्वानों के सिद्धांत संकुचित दृष्टिकोण के परिचायक हैं । पाश्चत्य विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट कोई भी सिद्धांत अपने-आप में पूर्ण नहीं है । दूसरी ओर पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट कोई भी सिद्धांत ऐसा नहीं है, जिसकी चर्चा भारतीय विद्वानों द्वारा स्पष्ट या प्रकारान्तर से न हुई हो । कुल मिलाकर भारतीय आचार्यों ने इस क्षेत्र में व्यापक तथा गहन दृष्टि का परिचय दिया है ।

अंततः हम कह सकते हैं कि अर्थ-निर्णय के भारतीय सिद्धांतों की तरह पाश्चात्य सिद्धांतों का भी अपना महत्त्व है, भले ही इनमें हमें पूर्णता का आभास नहीं होता है, परंतु पाश्चात्य भाषा-जगत् में इन सिद्धांतों का अपना एक विशेष स्थान है। इस प्रकार इनको पूर्णता नकारा भी नहीं जा सकता ।

डॉ. रनजीव कुमार

पुराने गुरुद्वारा के पास,
पो. घनुपुर, वाया छहर्ता,
जिला - अमृतसर - १४३१०५

टिप्पणियाँ

१. भर्तृहरि, वाक्यपदीयम्, विरचित अम्बाकर्त्री, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, तृतीय संस्करण, १९८८
२. जगदीश, शब्दशक्तिप्रकाशिका, संस्करण १९७३
३. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, दि भारतीय बुक कार्पोरेशन, १९७७, पृ. ४३
४. Parkinson G.H.R., The Theory of Meaning, Oxford University Press, 1968, pp. 1-14
५. Russell, B., 'On Denoting', Logic and Knowledge, ed. Marsh, R.C., Allen & Unwin, London, 1956, p. 39ff.
Strawson P.F., The Bounds of Sense, 1966
६. Frege, Philosophical writings, Tr. by Geach, P.T. and Black M., Blackwell, Oxford, 1952, pp. 55

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

७. Sapir, S., 'Language', Worth Seeing, Ch. I, New York, 19?1

८. Joseph, ..W.B., Introduction To Logic, Oxford, 1906, pp. 12.

९. Wittgenstein, L., Tractatus Logco-Philosophicus, 1st, ed., Tr. by Pears, D.F. and Guiness B.F.M.C., Routledge, London, 1961

१०. Stevenson, C.L., Ethics and Language, Yale U.P., 1945, Chap. 3.

११. White, A.R., 'A note on Meaning and Verification' Mind, 1954, pp. 66.

१२. Wittgenstein, L., Philosophiccal Investigations, Blackwell, Oxford, 1954, pp. 1-43

१३. Searle, J., 'What is a speech act ?' in Philosophy in America, ed. by Black, M., Allen & Unwin, London, 1965, pp. 221.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भाषाई प्रयोग और आत्मा का स्वरूप

बोलचाल की हमारी साधारण भाषा में 'आत्मा' एक बहुप्रयुक्त शब्द है, और इसका उपयोग संदर्भानुसार अनेक अर्थों में किया गया है । इस आलेख में हमारा यह प्रयत्न होगा कि आत्मा के इस भाषाई प्रयोग की विवेचना कर हम उसके अर्थ और अन्य धारणाओं से उसके संबंध को सुनिश्चित करें । हम यहाँ आत्मा संबंधी भाषागत सभी प्रयोगों का उल्लेख तो नहीं कर सकते (और शायद यह संभव भी नहीं है) किंतु कुछ ऐसे प्रतिनिधि मुहावरों, उद्धरणों और वाक्यों को प्रस्तुत करना चाहेंगे जिनसे आत्मा के अर्थ को जान पाने में कुछ सुविधा हो सके।

(१) गांधीजी स्वयं अपने-आप से एक प्रश्न करते हैं, 'शरीर को बचाने के लिए बहुत कुछ उद्यम करता हूँ, आत्मा को पहचानने के लिए भी इतना करता हूँ क्या ?'

इस प्रश्न में स्पष्ट ही गांधीजी आत्मा को शरीर से अलग देखते हैं । शरीर आत्मा नहीं है । शरीर को बचाने के लिए, स्वस्थ रखने के लिए हम काफी कुछ प्रयत्न करते हैं, किन्तु लगता है उतना प्रयत्न हम अपनी आत्मा को पहचानने, उसे बचाने के लिए नहीं करते ।

(२) प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक कोलरिज कहते हैं, 'या तो इसमें आत्मा है या तो नहीं है । यदि नहीं है तो हम सब पशु हैं, हो सकता है, सर्वोच्च और सर्वाधिक बुद्धिमान पशु हों, फिर भी निरे पशु ही हैं । केवल मात्रा का अंतर हो सकता है, गुण का नहीं ।'

इस संदर्भ में कुछ अन्य वाक्य भी देखिए -

"पाशविक क्रूरता का वह दृश्य देखकर मेरी आत्मा हिल गई ।"

"पशु कितना ही बर्बर क्यों न हो पर उसमें भी आत्मा का अंश होता है।"

उपर्युक्त सभी संदर्भों में आत्मा को पशु (पशुता) के विरुद्ध माना गया है। जहाँ पशुता है, वही आत्मा नहीं है । आत्मा पाशविक क्रूरता से अपना मेल नहीं बैठा सकती । गांधीजी ने इसीलिए आत्म-बल (सोल-फोर्स) और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पशुबल (एनीमल फोर्स) में स्पष्ट भेद किया था ।

(३) "नैतिकता से रहित राजनीति एक संजाल है जिसमें फँसकर व्यक्ति की आत्मा छटपटाती है ।" (म. गांधी)

"कोई भी गलत काम करने को मेरी आत्मा गवाही नहीं देती ।"

"तुम्हे तो कोई भी काम करने में अब कोई झिझक ही नहीं रही है, तुम्हारी तो मानों आत्मा मर गई है ।"

उपर्युक्त सभी उद्‌बोधनों में आत्मा को नैतिकता का समानाधक या उसके निकट माना गया है । आत्मा और नैतिकता का एक सकारात्मक सहसंबंध दर्शाया गया है । जहाँ नैतिकता नहीं, वहाँ आत्मा का निवास भी नहीं है ।

(४) ऐसा बहुत कम होता है कि कोई राजनीतिज्ञ अपनी आत्मा की आवाज पर काम करे ।"

इस उदाहरण का आशय यह है कि राजनीतिज्ञ अपने निर्णय प्रायः सही तथ्यों के आधार पर नहीं लेते बल्कि वे निहित स्वार्थों से निर्धारित होते हैं । पर आत्मा और उसकी आवाज निःस्वार्थ, निष्काम और विकाररहित होती है ।

(५) हो सकता है मैं ठीक से अपनी बात न कह पाया होऊँ, पर कृपया भाषा पर न जाइए, उसकी आत्मा पहचानिए ।"

सामान्य रूप से कहा जाने वाला यह वाक्य आत्मा को 'सारतत्त्व' के रूप में प्रस्तुत करता है । वाक्य में निहित 'अर्थ' ही वाक्य की आत्मा है । यह अर्थ वाक्य की बाह्य बनावट न होकर - जो दोषपूर्ण भी हो सकती है - उसके आंतरिक आशय में है । आत्मा से अर्थ यहाँ बाह्य आडम्बर से अलग 'आंतरिक प्रयोजन' से है ।

(६) "कल रात भोजन बहुत स्वादिष्ट था; खाकर आत्मा तृप्त हो गई।"

"बहुत दिनों से विरह की आग में जल रहा था, आज मिलन से आत्मा शीतल हो गई ।"

"बच्चा बीमार है, उसका कष्ट देखकर मेरी आत्मा रो उठती है ।"

उपर्युक्त वाक्यों में दुःख-सुख आदि, भाषा की अभिव्यक्तियाँ हैं और इनका आलंब या अधिकरण आत्मा को माना गया है ।

(७) "अच्छे काम के लिए पुरस्कार न पा सका, आत्मा मसोसकर रह गई।"

"बच्चे की प्रगति देखकर, उसे आत्मा असीसती है ।"

दोनों ही वाक्यों में 'आत्मा' मन और हृदय का पर्याय है । यहाँ आत्मा व्यक्ति की आंतरिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(८) "व्यक्ति पूरी दुनिया प्राप्त कर ले, लेकिन अपनी आत्मा खो दे, तो इससे क्या लाभ है ?" (बाइबिल)

यहाँ आत्मा की अवधारणा 'दुनिया' के विरुद्ध है । सारी दुनिया पाकर भी आत्मा नहीं बचाई जा सकती । आत्मा दुनिया का अतिक्रमण कर जाती है, लोकातीत है, प्रागनुभविक है, समस्त अनुभवों से परे वह उनका आलंब है।

आत्मा के कतिपय भाषागत प्रयोगों के उपर्युक्त उदाहरणों से हम आत्मा संबंधी निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं -

सर्वप्रथम नकारात्मक रूप से -

- आत्मा शरीर (भौतिक द्रव्य) नहीं है ।
- आत्मा का मेल पाशविकता से नहीं खाता ।
- आत्मा निःस्वार्थ, निष्काम और विकार रहित है ।

और सकारात्मक रूप से -

- आत्मा आंतरिक वस्तु है, सारतत्त्व है ।
- आत्मा और नैतिकता में एक सकारात्मक सहसंबंध है ।
- आत्मा दुःख आदि भावों का अधिकरण है ।
- आत्मा लोकातीत, प्रागनुभविक, अनुभवालंबगत है ।

वैशेषिक दर्शन का एक सूत्र है जिसमें आत्मा के लक्षण बताकर उसे परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया है - 'प्राणापान-निमिषोन्मेष-जीवन मनोगतेन्द्रियान्तर्विकार सुख-दुःखेच्छा द्वेषप्रयत्नाश्चत्मातमनो लिंगानि ।'

अर्थात्, प्राण, अपान (चेतना) निमेष (परमेश्वर ?) उन्मेष (प्रकाश, दीप्ति) जीवन, इन्द्रियों के विकार - सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न - तथा मन - आत्मा के ये लक्षण हैं।

परंतु क्या आत्मा वस्तुतः इन लक्षणों से परिभाषित की जा सकती है ? आत्मा को परिभाषित करना आत्मा को एक वस्तु या 'द्रव्य' के रूप में स्वीकार कर लिया जाना है । ऐसे में मूलतः वह अन्य वस्तुओं में एक वस्तु होकर रह जाएगी । किन्तु वह तो हमारे समस्त अनुभवों का, ज्ञान का अधिष्ठान है । वह लोकातीत है । ऐसे में हम केवल मोटे तौर से उसके स्वभाव की ओर संकेत भर कर सकते हैं, उसे परिभाषित नहीं कर सकते ।

आत्मा अपरिभाष्य है ।

सुरेन्द्र वर्मा

१०, एच. आई. जी.,
१-सर्कुलर रोड, इलाहाबाद (उ.प्र.) २११००१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय वाङ्मय में भाषा का स्वरूप

भाषा मानव जीवन का वह बहुमूल्य अवदान है, जिसने भावों एवं विचारों को विनिमय शक्ति प्रदान कर समस्त मानव को मानवीय समाज के रूप में संगठित तो किया है ही साथ ही, चिन्तन एवं अभिव्यक्ति की क्षमता प्रदान कर इनकी सांस्कृतिक चेतना का भी विकास किया। सृष्टि के प्रारंभ से ही यह मानवीय भावों एवं विचारों को वहन कर उन्हें विकसित एवं समृद्ध करती आ रही है। सच पूछा जाय तो भाषा के बिना न तो मानवीय चिन्तन संभव है और न ही मानवीय बोध का पारस्परिक सम्प्रेषण। भाषा की इसी महत्ता को स्वीकार करते हुए महान आचार्य दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में लिखा है :-

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥[१]

(अर्थात् यदि शब्दरूपी ज्योति संसार में न जलती तो संसार में चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा रहता।)

वस्तुतः भाषा ही सम्पूर्ण विश्व की सर्वोत्कृष्ट ज्योति है, जो मानव के हृदय के अंधकार को दूर करती है। यह कल्पना भी नहीं की जा सकती है कि भाषा के बिना मानव की क्या दयनीय स्थिति होती! महान् वैयाकरण भर्तृहरि ने कहा है कि संसार में ऐसा कोई ज्ञान है ही नहीं, जो बिना शब्द के हो सके। प्रत्येक ज्ञान किसी न किसी शब्द से अनुबिद्ध हुआ सा रहता है :-

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुबिद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥[२]

(अर्थात् लोक में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, जो बिना शब्द के अनुगम के होता हो। अतः सभी ज्ञान शब्द से जुड़ हुए की भाँति भासित होते हैं।)

भाषा वस्तुतः एक सामाजिक तथ्य है, सामाजिक सम्पर्क का फल है। प्रो. आटो येस्पर्सन ने अपनी पुस्तक 'लेंग्वेज' में स्वीकार किया है कि 'ऐसा कोई समय नहीं था, जब मानव के पास कोई भाषा जैसा साधन नहीं था तथा वह पशुतुल्य मूक प्राणी था।'[३] यही वाणी प्राणियों में चेतना शक्ति है, जो बाह्य लोक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यवहार का साधन है तथा अंतःकरण के सुख-दुःख का ज्ञान कराती है, क्योंकि ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जहाँ चेतना और वाक्मात्र न हो :-

सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते ।
तन्मात्रमनतिक्रान्ति चैतन्यं सर्वजन्तुषु ॥[४]

क्योंकि समस्त प्राणियों को कार्य करने के लिए वाणी ही प्रेरक है और इस वाणी के बन्द हो जाने पर यह देह, काठ और भीत की तरह बिना चेतना का हो जाता है ।

अर्थक्रियासु वाक् सर्वान्समीहयति देहिनः ।
तदुत्क्रान्ति विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत् ॥[५]

भाषा के स्वरूप पर यदि विचार किया जाए तो यह स्पष्ट होता है कि यह काफी विशाल एवं अगाध है, क्योंकि ज्ञान विज्ञान का ऐसा कोई अंश नहीं है, जो भाषा में समाहित न हो । जिस प्रकार ब्रह्म के विराट रूप में सम्पूर्ण विश्व समाहित है, उसी प्रकार भाषा में सम्पूर्ण भाषाओं का वाङ्मय समाहित है । मानव का प्रत्येक कार्य भाषा के द्वारा ही संचालित होता है । व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति-समाज या व्यक्ति की सभी स्थितियों का आधार भाषा है। भाषा में निरन्तर संशोधन एवं परिष्करण की प्रक्रिया चलती रहती है । यही कारण है कि यह पुरानी होने पर भी अद्यतन बनी रहती है । भाषा में सुदृढ़ और उपादेय शब्दों को चलाये जाते हैं, साथ ही जो शब्द जीर्ण अरुचिकर या अप्रचलित हो जाते हैं, उन्हें कालक्रम से हटा दिया जाता है । ऋग्वेद में कहा गया है, 'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।'[६]

भाषा मानव का अक्षय-कोष है । यही मानवता की पूँजी है, मानव समाज का चिर-संचित कोष है, जिसको लेकर भावी पीढ़ी अपना काम चलाती है । मानव ने सृष्टी के आरंभ से आज तक जो कुछ सोचा, समझा, जाना, देखा, साथ ही अनुभव किया उसे भाषा के द्वारा व्यक्त किया गया । यह मानव जाति का सार एवं सर्वस्व है, अतः इसे 'रस' कहा गया है । ऋग्वेद में इसे 'अमृत की नाभि' एवं 'देवों की जिह्वा' कहा गया हैं - जिह्वा देवानामृतस्य नाभिः ।[७]

भाषा का कोई अंतिम स्वरूप नहीं होता, क्योंकि यह सतत प्रवाहमय एवं गतिशील है । जिस प्रकार विश्व की सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं, उसी प्रकार भाषा भी परिवर्तनशील है । अतएव परिवर्तनशील वस्तु का कोई अंतिम स्वरूप नहीं होता । भाषा का मूल 'वाक्य' है, क्योंकि वाक्य ही वह सत्ता है, जो मानव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के विचार को पूर्ण एवं स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करती है । उपयोगिता एवं शास्त्रीय दृष्टि से वाक्य ही भाषा के सार्थक अंग है । वाक्यों में पदों की सार्थकता के सम्बन्ध में भर्तृहरि का कथन है :-

अथा पदे विभज्यते प्रकृति प्रत्ययादयः ।
अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते ॥[८]

वेद में भाषा को ब्रह्म का समानार्थक बताया गया है । यहाँ ब्रह्म को 'शब्द-ब्रह्म' की संज्ञा दी गयी है । उपनिषद् के अनुसार वाणी ही ब्रह्म है । यहाँ सृष्टि के बीज की प्रकृति (जिससे भवचक्र का क्रम चलता रहता है) को ईश्वरीय शब्द माना गया है । अर्थात् ईश्वरीय शब्द से ही सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि हुई है । वाक्य के ईश्वरीय स्वरूप एवं उसके प्रत्येक भवचक्र के उद्भव की अभिव्यक्ति वेद से उद्भूत ब्राह्मण परम्परा भाषा को 'दैवीवाक्' समझते हैं ।

समकालीन दार्शनिक अरविन्द के अनुसार, 'वेद की भाषा मेधा की सृष्टि न होकर अनन्त से नाद करती हुई मनुष्य के अन्दर से जाना गया सत्य है ।' ऋग्वेद के अनुसार शब्दों के उतने ही रूप होते हैं, जितने ब्रह्म के । यहाँ तक कि परवर्ती हिन्दू ऋचाओं जैसे आरण्यक तथा उपनिषद् में ऐसा कहा गया है, 'वाक्य एवं ब्रह्म एक है, सम्पूर्ण है ।' स्पष्ट है कि सामान्य चेतना के तीन स्तरों (जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति) में निरूपित है । ओऽम् चेतना के इन स्तरों से परे है, जहाँ वाणी तक नहीं पहुँचती । जो वाणी से परे है, उसे ही 'ओऽम्' कहा जाता है । जो शब्द ब्रह्म की प्रवृत्ति को ठीक समझ सकेगा, वही उपनिषद् में वर्णित 'अमृत-ब्रह्म' को प्राप्त कर सकता है । अर्थात् सायुज्य मुक्ति उसे ही मिल सकती है, 'तस्मादायः शब्दसंस्कारः सा सिद्धि परमात्मनः तस्य प्रवृत्ति तत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते' । सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति का प्रथम विकार महत् तत्त्व है, जो बुद्धि है । महत् का विकार अहंकार है । अहंकार से एक ओर सत्त्वप्रधान ग्यारह इन्द्रियों की सृष्टि हुई तो दूसरी ओर तमःप्रधान पंचतन्मात्रा की उत्पत्ति हुई, इनमें प्रथम शब्द तन्मात्रा है, जिससे स्थूल आकाश नामक भूत की उत्पत्ति होती है । सांख्य दर्शन में विश्व के सभी स्थूल घट-पट आदि प्राकृतिक पदार्थ शब्द, रूप, रस और गंध का समुदाय मात्र है ।

मीमांसा दर्शन में शब्द के सम्बन्ध में मुख्य धारणा यह है कि वर्ण या अक्षर से ध्वनि व्यक्त होती है । चूँकि वह नित्य और व्यापक है, इसीलिए उससे पृथक् कोई ऐसा समुदाय नहीं होता, जो अर्थ का ज्ञान कराता है । वे अक्षरों एवं वर्णों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से ही शब्द की रचना मानते हैं । मीमांसकों के अनुसार वर्ण तत्त्वतः तो शाश्वत तथा व्यापक हैं, लेकिन उनका प्रकाशन ध्वनि यंत्र के प्रयत्न से होता है, तभी वे शब्द बनकर अर्थ का बोध कराते हैं । अतः उच्चारित वर्ण ही शब्द कहलाते हैं। ये उच्चारित वर्ण क्षणिक होते हैं, फिर भी प्रत्येक उच्चारित वर्ण अपना संस्कार छोडता जाता है और जब शब्द के अंतिम वर्ण का उच्चारण होता है, तब पूर्ण उच्चारित सभी वर्णों की उसी क्रम में स्मृति हो जाती है और इस प्रक्रिया से स्मृति में आए हुए सभी वर्ण नियत क्रम में संघटित होकर अर्थ का बोध कराते हैं । पुनः इनकी मान्यता है कि जिस प्रकार आग में उष्णता का धर्म नित्य रूप में रहता है, उसी प्रकार शब्द में अर्थ का बोध सनातन रूप से रहता है । इस प्रकार मीमांसकों के सिद्धांत का सार यह है कि (१) वर्ण शब्दों का घटक है, जो नित्य है । (२) शब्द में अर्थबोध की स्वाभाविक तथा नित्य शक्ति अन्तर्निहित रहती है । (३) शब्द की इस शक्ति के साथ समय या परम्परा प्राप्त शब्दार्थ सम्बन्ध तथा व्यापार से अर्थबोध संभव होता है ।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार वह अर्थ शब्द है, जिसका श्रोत्र (कान) द्वारा ग्रहण होता है - 'श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः सः शब्दः ।' श्रोत्रद्वारा चूँकि इन वर्णों का ही ग्रहण होता है, अतः यह शब्द है । इससे भिन्न स्फोट रूप शब्द का कोई अस्तित्व नहीं है । जैसा वैयाकरणों ने माना है कि बौद्ध दर्शन में शब्द को ध्वनि रूप उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाला माना गया है । अतः बौद्ध दार्शनिक क्षणिक ध्वनि को ही शब्द मानते हैं । शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में उन्होंने जिस नवीन सिद्धांत का प्रतिपादन किया वह 'अपोहवाद' या 'तद्भिन्न-भिन्नतावाद' के नाम से प्रसिद्ध है। वे शब्द का अर्थ अपोह या अतद् व्यावृत्ति रूपं मानते हैं । अपोह का अर्थ है - 'आच्छादान' । अतद्व्यावृत्ति का अर्थ है - 'अर्थ से भिन्न सभी वस्तुओं का निषेध'। इस प्रकार अपोहवाद या तदभिन्न-भिन्नतावाद का सा़र है कि शब्द का अर्थ तद् भिन्न या व्यावर्तन या अपोहरूप होता है । उदाहरणार्थ 'गाय' शब्द का अर्थ होगा - 'गाय से भिन्न सभी पदार्थों से भिन्न पदार्थ का बोध' । इस तरह बौद्ध विचारकों के अनुसार 'गाय' शब्द विधि रूप में किसी अर्थ का बोध नहीं कराता। उससे भिन्न का निषेध या व्यावर्तन कराता है और इस व्यावर्तन रूप अर्थ के बोध की शक्ति शब्द में रहती है शब्द का अर्थ भाव न होकर अभाव रूप होता है । गाय से भिन्न सभी पदार्थों से भिन्न 'गाय' ही हो सकती है ।

आगम शास्त्र के अनुसार शब्द या नाद के रूप में जो कुछ भी सुंना जाता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, वह सांसारिक शक्ति की अभिव्यक्ति है । जब तक ध्वनि उत्पन्न होती है, आकाश रहता है तथा जब तत्त्व विनिष्ट हो जाते हैं तब निराकार (आकारहीन) बच जाता है । निराकार तथा निःशब्द तत्त्व को 'परब्रह्म' या 'परमात्मा' कहा जाता है :-

यत् किंचिन्नारूपेण श्रूयते श्रुतिरेव सा ।
यस्तत्वान्ते निराकारः स एव परमेश्वरः ॥[९]

भागवत् पुराण में 'शब्द-ब्रह्म' को अनन्त तथा अपरिमित कहा गया है :-

शब्द ब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोभम् ।
अनन्तपारं गंभीरं दुर्निगाह्यं समुद्रवत् ॥

महाभारत के शांतिपर्व में कहा गया है कि शब्द-ब्रह्म में निष्णात् व्यक्ति पर-ब्रह्म को प्राप्त कराते हैं - 'शब्द ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधि गच्छति' । वस्तुतः ऐसा कोई भी विचार नहीं है, जो शब्द में समाहित न हो । सभी ज्ञान शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं । पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' में कहा कि ज्ञात तथा प्रयुक्त शब्द एक है । शब्द की महत्ता को ध्यान में रखकर इन्होंने यहाँ तक कहा हैं कि अच्छी तरह से ज्ञात एवं प्रयुक्त एक शब्द भी स्वर्ग तथा मृत्युलोक में कामनाओं की पूर्ति करता है -

एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः शास्त्रान्वितः ।
सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति ॥[१०]

अथर्ववेद के अनुसार सभी भाषाओं या वाक् का परम सिद्धांत सर्वोच्च प्राणी है । वाक् के द्वारा ही इस ब्रह्माण्ड में सभी - ईश्वर, मनुष्य तथा पशु रहते हैं । तैत्तरिय उपनिषद् के अनुसार आत्मा से ही सम्पूर्ण सृष्टि प्रकट होती है । आचार्य कैकट ने अपनी घटत्वादि रूप असत् उपाधियों के रहने पर भी पारमार्थिक रूप से सभी शब्दों द्वारा ब्रह्म की अभिव्यक्ति का प्रतिपादन किया है ।[१२] जिस प्रकार आचार्य भर्तृहरि एवं आचार्य दण्डी ने शब्दतत्त्व को इस सम्पूर्ण संसार का आधारभूत तत्त्व होने के साथ-साथ इस निखिल प्रपंच का प्रकाशक निरूपित किया है, बिल्कुल ऐसी ही मान्यता ख्रिश्चन धर्म के आधारभूत ग्रंथ बाइबल में अभिव्यक्त हुई है । बाइबल के 'न्यू टेस्टामेंट' में कहा गया है - 'आरंभ में शब्द था, शब्द ईश्वर के साथ था और ईश्वर शब्द के साथ था ।[१३]

वैयाकरण इस नित्य शब्दब्रह्म को 'स्फोट' के नाम से पुकारते हैं, जो सम्पूर्ण विश्व का मूल कारण है, 'जगन्निदानं स्फोटोख्यो नित्यः शब्दो इव इति'। वैयाकरणों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के अनुसार सृष्टि के आरंभ में पश्यन्ती व वाक्रूपी शब्द-ब्रह्म ने अपनी अपरिचित शक्ति वाली माया के साथ होकर विभिन्न प्रकार के प्राणियों के कर्मों की सहायता से समस्त नामरूपात्मक जगत् को बुद्धिस्थ करके संकल्प करता है और तब अपनी स्वतंत्र शक्ति 'कालशक्ति' के साथ आकाशादिकों की, उसके बाद भूतों की सृष्टि करता है । जो प्रलय के बाद स्थिर है, जिसका तर्क आगम और अनुमान अनेक प्रकार से किया गया है, जो समस्त प्राणियों के शरीर में विद्यमान है, जो मुक्त है तथा मोक्षार्थी जिसकी उपासना करते हैं; जिसकी प्रथम ज्योति वेद में परिणत होती है, वह शब्द है और उसी की मात्रा से जगत् का विवर्त हुआ है और उसी में वह विलीन हो जाता है ।

इस प्रकार वेद, उपनिषद्, सांख्य, मीमांसा, न्याय-वैशेषिक दर्शनों के साथ-साथ व्याकरणशास्त्र में भी भाषा के स्वरूप की विशद् चर्चा की गई है तथा विभिन्न दृष्टियों से शब्द के द्वारा अर्थबोध की विवेचना प्रस्तुत की गई है ।

सहायक प्रोफेसर, डॉ. विनोद कुमार चौधरी
दर्शनशास्त्र विभाग, नव नालन्दा महाविहार,
नालन्दा - ८०३ १११

टिप्पणियाँ

१. काव्यादर्श, दण्डी, पृ. १-४
२. वाक्यपदीय, भर्तृहरि, १.१३२
३. लेंग्वूऐज, प्रो. आटो येस्पर्सन
४. वाक्यपदीय, भर्तृहरि, पृ. १-१२६
५. वाक्यपदीय, भर्तृहरि, पृ. १, १२७
६. ऋग्वेद, १०-१२५-८
७. ऋग्वेद, ४-५८-१
८. वाक्यपदीय, भर्तृहरि, २-१०
९. दृढयोग प्रदीपिका, स्वामी रामाचारी, ४-१०१
१०. महाभारत, शांतिपर्व, २७०, गीताप्रेस गोरखपुर
११. महाभाष्य, पतंजलि, १.१.६४
१२. कैकटकृत प्रदीपव्याख्या, व्याकरण महाभाष्यम्, पृ. ३४
१३. बाइबिल, न्यू टेस्टामेंट, १.३
१४. सर्वदर्शनसंग्रह ऑफ माधवाचार्य, व्याख्याकार उमाशंकर शर्मा, 'ऋषि', पृ. ५९१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थ समीक्षा

विट्गेन्स्टाइन के दर्शन की रूपरेखा, लेखक - कालीचरण पाण्डेय, प्रकाशक - न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, दिल्ली, मूल्य - ३००/-

बीसवीं सदी का महानतम दार्शनिक कौन, इस विषय में मतभेद सम्भव है किन्तु इस बात से शायद ही कोई इन्कार करे कि लुडविग विट्गेस्टाइन उन गिने-चुने दार्शनिकों में से एक हैं जिन्होंने बीसवीं सदी के दर्शन को एक नई दृष्टि और दिशा प्रदान की । उनके श्रेष्ठ अवदान से दर्शन ही नहीं अपितु ज्ञान-विज्ञान की अन्यान्य शाखायें भी प्रभावित हुईं । इसलिए उनके दार्शनिक चिन्तन का अध्ययन कई दृष्टियों से एक महत्त्वपूर्ण कार्य है । उन्हें समझे बिना बीसवीं शताब्दी के वैचारिक इतिहास को पूरी तरह समझा नहीं जा सकता । खुशी की बात है कि पिछले कुछ दर्शकों से भारत में विट्गेस्टाइन के दर्शन का अध्ययन-अध्यापन प्रचुर मात्रा में हो रहा है । लेकिन अफसोस की बात यह है कि अधिकांशतः यह अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ही हो रहा है । ऐसे में उनके श्रेष्ठ दार्शनिक चिन्तन का परिचय भारतीय भाषाओं के माध्यम से व्यापक स्तर पर दर्शन प्रेमियों को कराना विद्वानों का दायित्व बनता है । कतिपय विद्वानों ने विट्गेस्टाइन के कुछ महत्त्वपूर्ण मूल ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद करके इस दिशा में अच्छी शुरुआत की है । किन्तु उनके चिन्तन के विविध पक्षों को प्रस्तुत करने वाली पुस्तक की अब तब हिन्दी में कमी थी। कालीचरण पाण्डेय जैसे युवा और प्रतिभाशाली दार्शनिक ने इस कमी को पूरा करने का प्रयास अपनी पुस्तक के माध्यम से किया है । आइये देखें कि वे इस चुनौती का सामना करने में कितने सफल रहे ।

प्रस्तुत पुस्तक में कुल तेरह अध्याय हैं जिनमें पाँच 'परामर्श' में और दो 'दार्शनिक त्रैमासिक' में पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं । विट्गेस्टाइन के दार्शनिक चिन्तन के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण आयामों के प्रस्तुतीकरण के साथ साथ अद्यतन उपलब्ध व्याख्याओं का उल्लेख एवं मूल्यांकन करने का निष्पक्ष प्रयास इस पुस्तक में किया गया है, जो इस पुस्तक की विशेषता है । यह कार्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कितना कठिन है इसका अंदाज विट्गेस्टाइन की प्रिय शिष्या श्रीमती एन्स्कॉम्बे के हवाले से लेखक द्वारा की गई टिप्पणी से लगाया जा सकता है कि "हम अधिकांशतः विट्गेस्टाइन के विचारों की समीक्षा या तार्किक विश्लेषण नहीं करते बल्कि उनके विचारों का रूपान्तरण या व्याख्या ही करते हैं ।" (पृ. X ।)

प्रथम अध्याय विट्गेस्टाइन के दार्शनिक व्यक्तित्व निर्माण की पृष्ठभूमि से हमारा परिचय कराता है । इसमें उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं और उन विद्वानों और पुस्तकों का जिक्र है जिन्होंने उनके वैचारिक यात्रा पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला। इनमें कार्ल क्राउस की पत्रिका *डाईफेकेल,* शोपेनहावर की पुस्तक *द वर्ल्ड इज विल एन्ड एज रिप्रेजेन्टेशन,* आटो विजिन्गर की पुस्तक *सेक्स एन्ड करेक्टर,* बर्टेन्ड रसेल की पुस्तक *द प्रिंसिपल्स आफ मैथमेटिक्स* और टालस्टाय की पुस्तक *गास्पल इन ब्रीफ* प्रमुख हैं । इसके पीछे लेखक की यह धारणा है कि किसी भी दार्शनिक के विचारों को अच्छी तरह समझने के लिए उसकी परिस्थितियों को समझना न केवल प्रासंगिक बल्कि कभी कभी आवश्यक भी होता है और विशेषतः विट्गेस्टाइन के दर्शन को उनके जीवन के प्रति दृष्टिकोण से अलग करके नहीं देखा जा सकता । ऐसे में पूर्ववर्ती विट्गेस्टाइन के विचारों पर पडने वाले प्रभावों का स्पष्ट विवेचन करने के बाद लेखक द्वारा यह कहना कि उत्तरवर्ती विट्गेस्टाइन के विचारों पर किसी अन्य विद्वानों के विचारों का प्रभाव खोजना मुश्किल है, कुछ असंगत सा लगता है । जबकि हम जानते हैं कि *ट्रॅक्टेटस* में सभी दार्शनिक समस्याओं को हल कर चुकने का दावा करने के बावजूद, आस्ट्रिया में प्राइमरी स्कूल टीचर का जीवनयापन करते हुये भी वे बराबर वियना स्कूल के कर्णधारों से दार्शनिक वार्तालाप करते रहे । उत्तरवर्ती विट्गेस्टाइन के मौलिक विचारों का इन्कार नहीं किया जा सकता किन्तु मौलिकता वैचारिक शून्यता से तो नहीं जन्मती ।

द्वितीय अध्याय में लेखक ने विट्गेस्टाइन की जीवन दृष्टि के विभिन्न आयामों (नैतिकता, धार्मिकता, आध्यात्मिकता, मानवीय संकल्प और मानवीय सम्बन्ध आदि) की चर्चा की है जो उनकी दृष्टि में विट्गेस्टाइन की दार्शनिक दृष्टि की ही प्रतिछाया या व्यावहारिक प्रस्तुतीकरण माना जा सकता है । आज जबकि व्यावहारिक दर्शनशास्त्र की चर्चा जोरों पर है, विट्गेस्टाइन के व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित विचारों को सामने लाना समीचीन ही है, विशेषतः जब हम पाते हैं कि विट्गेस्टाइन का जीवन और दर्शन के दृष्टिकोण और उनकी जीवन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यापन की शैली में कोई विरोधाभास नहीं था । और भी अच्छा होता यदि यह अध्याय विट्गेंस्टाइन की दार्शनिक देन के विवेचन के बाद स्थान पाता । इससे पाठक को उनकी दार्शनिक दृष्टि, जीवन दृष्टि और जीवन शैली के बीच में सम्बन्ध को समझने में आसानी होगी । इस अध्याय की विशेषता मैलकम और पीटर विंच के बीच विट्गेन्स्टाईन के धार्मिक दृष्टिकोण को लेकर हुए विवाद का विस्तृत विवेचन है । दोनों पक्षों के तर्कों के गहन विश्लेषण के उपरान्त लेखक ने दोनों के बीच सामञ्जस्य का सुझाव दिया है और विट्गेंस्टाइन को भारतीय दर्शन में 'धर्म' की अवधारणा के समतुल्य एक धार्मिक व्यक्ति स्वीकार किया है । भारतीय दर्शन के अध्येताओं को इसे स्वीकारने में कोई आपत्ति नहीं दिखती किन्तु विट्गेंस्टाइन के इस कथन "मैं धार्मिक व्यक्ति नहीं हूँ परन्तु मैं सभी समस्याओं को धार्मिक दृष्टिकोण से देखने से स्वयं को बचा नहीं सकता" का वास्तविक अर्थ क्या है, इस विषय पर शोधार्थियों में विवाद की गुन्जाइश अभी बनी रहेगी ।

तीसरा अध्याय "ट्रॅक्टेटस लाजिको फिलोसोफिकस" पर केन्द्रित है जिसके बारे में यह निर्विवाद सत्य है कि विट्गेंस्टाइन की इस पुस्तक ने पाश्चात्य दर्शन पर दूरगामी प्रभाव डाला । *ट्रॅक्टेट्स* की पद्धति सूत्रात्मक है, विचार मकडी के जाले के समान एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और विषय वस्तु बहुआयामी है । इसलिए यह पुस्तक इतनी दुरुह है कि तत्कालीन दार्शनिक उसके मूल प्रतिपाद्य विषय को समझ न सके । रसेल, मूर और फ्रेगे के बारे में विट्गेंस्टाइन स्वयं कहते हैं कि उन्होंने *ट्रॅक्टेट्स* को नहीं समझा । लेखक ने विनम्रता के साथ *ट्रॅक्टेट्स* के परिचयात्मक विवरण को ही अपना उद्देश्य बनाया है, समीक्षात्मक पक्ष को नहीं । उन्होंने *ट्रॅक्टेट्स* का अध्ययन मुख्यतः चार भागों के अन्तर्गत करने का सुझाव दिया है : (१) तथ्य, जगत्, वस्तुस्थिति, प्रतिज्ञप्ति, अर्थ, अपलाप (२) भाषा का चित्र सिद्धांत (३) कथनीय और दर्शनीय और (४) दर्शन शास्त्र की प्रकृति । *ट्रॅक्टेट्स* के मूल प्रतिपाद्य को स्पष्ट करते हुए लेखक ने पिचर, रैमसे और रसेल की आलोचनाओं की भी चर्चा की है । विषय की गूढता और महत्त्व को देखते हुए यह अध्याय अधिक विस्तार की अपेक्षा रखता है । जिस तरह अर्थ के चित्र सिद्धांत को एक अलग अध्याय दिया गया है उसी तरह 'कथनीय और दर्शनीय' को भी विस्तार देना अपेक्षित है ।

अर्थ का सिद्धांत *ट्रॅक्टेट्स* का एक प्रमुख सिद्धान्त है । लेखक ने न

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

केवल इस सिद्धान्त की मूल अवधारणा को स्पष्ट किया है अपितु यह भी स्थापित करने का प्रयास किया है कि उत्तरवर्ती विट्गेंस्टाइन में इसका एक विशिष्ट रूप देखा जा सकता है । साथ ही यह भी दर्शाया है कि उत्तरवर्ती काल में चित्रीयता (पिक्टोरियलिटि) के जिस सम्प्रत्यय को अपनाया गया है वह *ट्रॅक्टेट्स* और *नोटबुक* के चित्र सिद्धांत से किस प्रकार भिन्न है । इस सिद्धांत की आलोचनाओं से भी परिचय कराया है । किसी भी विद्यार्थि के लिए पूर्ववर्ती विट्गेंस्टाइन को समझने के लिए यह अध्याय बहुत सहायक होगा ।

ट्रॅक्टेट्स और रसेल के भाषा के चित्र सिद्धान्त की आलोचनाओं के प्रत्युत्तर स्वरूप विट्गेंस्टाइन *फिलोसोफिकल इन्वेस्टिगेशन्स* में भाषा के प्रयोग सिद्धान्त की स्थापना करते हैं । इसके अनुसार किसी भी शब्द या वाक्य के अर्थ का निर्धारण उस शब्द या वाक्य के प्रयोग के द्वारा होता है । लेखक ने पाँचवे अध्याय में उत्तरवर्ती विट्गेंस्टाइन के भाषा के अर्थ सिद्धान्त, भाषा के प्रयोग सिद्धान्त, भाषा खेल और जीवन के आकार तथा उनके अनुसार दर्शन शास्त्र की प्रकृति की स्पष्ट विवेचना की है । उल्लेखनीय है कि विट्गेंस्टाइन दर्शन शास्त्र को विचारों का संग्रह न मानकर एक क्रिया मानते हैं जिसका उद्देश्य विचार की गाठों को खोलना है । पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती विट्गेंस्टाइन के विचारों में इस विषय में समानता है कि दोनों यह स्वीकार करते हैं कि दार्शनिक समस्यायें भाषाई भ्रान्तियों के कारण उत्पन्न होती हैं जिनके निराकरण के बाद दार्शनिक समस्यायें विलीन जाती हैं । दर्शन शास्त्र की सार्थकता हमें हमारी भ्रान्तियों से अवगत कराने में है। विट्गेंस्टाइन की उद्देश्य किसी भाषा की प्राप्ति नहीं बल्कि भाषाई अभिव्यक्तियों की व्याकरणगत भ्रांतियों को ही स्पष्ट करना है जिसे भाषाई अभिव्यक्ति में भाषा खेलों के यथोचित प्रसंग को ध्यान में रखकर किया जा सकता है । विट्गेंस्टाइन के अनुसार निजी भाषा की अवधारणा, अनुभव के निजीपन के भाषा खेलों का वस्तु जगत् के भाषा खेलों से अन्तर न कर सकने का ही परिणाम है । अनुभव और भाषा की प्रकृति की जिन अतार्किक मान्यताओं पर निजी भाषा की अवधशरणा आधारित है उसका एक अलग अध्याय में स्पष्ट विवेचन लेखक की अपने विषय में गहरी पकड का परिचारक है । प्रसिद्ध लोकोक्ति 'जाके पैर न फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई' के दृष्टान्त से विषय और सुग्राह्य हो गया है ।

भाषा खेल और जीवन का आकार, उत्तरवर्ती विट्गेंस्टाइन के अर्थ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निर्धारण सम्बन्धी विचारों के केन्द्रीय सम्प्रत्यय हैं जिनका विवेचन एक स्वतंत्र अध्याय में लेखक ने करके उचित ही किया है । इसमें अर्थ का प्रयोग सिद्धांत, भाषा खेल, पारिवारिक सादृश्यता और जीवन के आकार की अर्थ निर्धारण में भूमिका तथा इनके बीच में अन्तर्सम्बन्धों का विश्लेषण किया है । भाषा खेल के सम्प्रत्यय में भाषा और खेल के बीच तुलना इस अध्याय की विशिष्ट उपलब्धि कही जा सकती है जहाँ किंचित् आलोचनाओं का उत्तर देने और साथ ही भाषा खेल से तुलना की सीमायें भी निर्धारित करने का प्रयास लेखक ने किया है । भाषा खेल अभिन्न रूप से जीवन के आकार से जुड़ा होता है । जीवन का आकार वह संस्कृति है जिसमें भाषा खेल के बाहर जाकर कभी भी आलोचना नहीं की जा सकती । यह अन्तर्दृष्टि संस्कृति के अध्ययन के लिए नई दृष्टि प्रदान करती है ।

जिस तरह विट्गेस्टाइन अर्थ निर्धारण को किसी सार्वभौमिक नियम पर आधारित न मानकर आधारहीन मानते हैं, उसी प्रकार के परम्परागत तर्कशास्त्र की आलोचना यह कह कर करते हैं कि वस्तुतः सार्वभौमिक नियम जैसी कोई सत्ता नहीं होती । नियम, नियम पालन के सन्दर्भ में ही प्रासंगिक होते हैं । उन्होंने तर्कशास्त्र को भाषा से सम्बद्ध माना और एक नवीन तर्कशास्त्र के सम्प्रत्यय की नींव रखी । लेखक ने तर्कशास्त्र में वर्णित नियमों की आधारहीनता को मोबाइल फोन के दृष्टान्त में अच्छे ढंग से समझाने का प्रयास किया है ।

विट्गेस्टाइन के धर्म सम्बन्धी विचारों की महत्ता को दर्शाते हुए लेखक ने तीन अध्यायों - नौ, दस और ग्यारह में पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती विट्गेस्टाइन के धर्म सम्बन्धी विचारों को उनकी आलोचनाओं के साथ विश्लेषित किया है। विट्गेस्टाइन के दृष्टिकोण की विशिष्टता धार्मिक भाषा को स्वायत्तता प्रदान करने में है । धार्मिक भाषा की स्वायत्तता धार्मिक अभिव्यक्ति की विशिष्टता स्थापित करती है । *ट्रॅक्टेट्स* में विट्गेस्टाइन धार्मिक अभिव्यक्ति को अव्यक्त की कोटी में रखकर स्वायत्त दर्जा प्रदान करते हैं लेकिन *इन्वेस्टीगेशन्स* में वे अपने भाषा खेल एवं जीवन के आकार के प्रत्ययों का धर्म के क्षेत्र में प्रयोग कर धार्मिक वैशिष्ट्य को और स्पष्ट करते हैं । जिस प्रकार साधारण भाषाई अभिव्यक्तियों के समानान्तर भौतिक या मानसिक जगत् के तथ्य होते हैं उसी प्रकार धार्मिक अभिव्यक्तियों का आधार अध्यात्म एवं मानवीय भावना होती है । जिस प्रकार भाषा खेल और जीवन के आकार में ही भाषाई अभिव्यक्ति अर्थपूर्ण होती है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसी प्रकार किसी के धर्म की आलोचना, इसके जीवन के आकार से परे जाकर नहीं की जा सकती । उक्त विचारों को 'विट्गेंस्टाइनियन फीडिज्म' कह कर आलोचना की जाती है । धार्मिक अभिव्यक्ति को स्वायत्त मानने से धार्मिक विश्वास और अन्धविश्वास में अन्तर करना कठिन हो जाता है । लेखक की मान्यता है कि उक्त आलोचना का प्रत्युत्तर धर्म विशेष की आन्तरिक सामंजस्यता को ध्यान में रखकर दिया जा सकता है । वह यह भी स्थापित करने का प्रयास करते हैं कि विभिन्न प्रकार के जीवन के आकारों और भाषा खेलों की परस्पर सम्बद्धता को स्वीकार करने से विट्गेंस्टाइनियन फिडिज्म के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता । विट्गेंस्टाइन के अध्येताओं के लिए यह एक रुचिकर क्षेत्र है जिसकी कठिनाइयों से लेखक परिचित कराने में सक्षम रहा है किन्तु आलोचनाओं से बचने का जो मार्ग उसने सुझाया है वह और अधिक स्पष्टता और विस्तार की अपेक्षा रखता है । धर्म को जीवन का आकार न मानकर जीवन के आकारों के रूप में देखने का क्या औचित्य है ? एवं फिर उसकी स्वायत्ता का क्या होगा? यदि यह सही है कि ऐसे धार्मिक जीवन के आकार की कल्पना नहीं की जा सकती जिसका समाज के अन्य जीवन के आकारों से कोई सम्बन्ध न हो तो फिर धार्मिक विश्वासों की वैज्ञानिक आलोचना से कैसे बचा जा सकता है ? और यदि वे अन्धविश्वास सिद्ध होते हैं तो धार्मिक भाषा की स्वायत्तता के नाम पर मानवीय भावनाओं का शोषण कब तक जारी रखा जायेगा ? यदि हम धर्म को स्वायत्त दर्जा देते हैं तो अन्धविश्वासों के साथ ही रहना होगा और यदि अन्धविश्वासों को छोडना है तो धर्म के जीवन आकार और भाषा खेल में बाहर आना ही होगा । अब चूँकि विट्गेन्स्टाइन के अनुसार धर्म के लिए भाषा एक सैद्धान्तिक आवश्यकता न होकर उसका अंग मात्र है, धर्म की भाषागत आलोचना की सीमायें स्पष्ट हैं लेकिन फिर धार्मिक भाषा की स्वायत्तता के आधार पर धर्म का वैशिष्ट्य स्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि धर्म के सार तत्त्व का भाषा से कुछ भी लेना देना नहीं है । (पृ. ११३)

धार्मिक अन्धविश्वास सम्बन्धी विट्गेस्टाइन के विचारों को और स्पष्टता से समझाने के लिए लेखक ने उनके द्वारा फ्रेजर की आलोचना को एक स्वतंत्र अध्याय का विषय बनाया है । लेखक के अनुसार फ्रेजर के विरुद्ध विट्गेस्टाइन की आपत्तियों का प्रमुख आयाम यह है कि फ्रेजर की धार्मिक अनुष्ठानों की वैज्ञानिक व्याख्या उनके आध्यात्मिक पक्ष की अनदेखी करती है । धार्मिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनुष्ठानों की वैज्ञानिक व्याख्या निश्चित रूप से इन्हें त्रुटिपूर्ण, भ्रम या अज्ञानता पर आधारित सिद्ध कर सकती है, परन्तु ऐसी व्याख्या इन अनुष्ठानों में पायी जाने वाली भावना और आध्यात्मिक सन्तुष्टि को छू तक नहीं पाती । अध्यात्म और विज्ञान निश्चत रूप से मानव जीवन के दो भिन्न-भिन्न पहलुओं से जुड़ होते हैं और किसी एक का दूसरे क्षेत्र में अतिक्रमण अनुचित और अनावश्यक होता है । विज्ञान के आधार पर अध्यात्म की जांच- परख, विट्गेस्टाइन के अनुसार एक प्रकार का अज्ञान ही है । (पृ. १२१-१२२) उपरोक्त सन्दर्भ में उठने वाले प्रश्नों और उनके प्रत्युत्तरों में विद्वानों में व्यापक मतभेद की चर्चा इस अध्याय की विशेषता है । विट्गेस्टाइन द्वारा समय-समय पर परस्पर विरोधी मत व्यक्त किये जाने से उसके अध्येताओं में विवाद की सम्भावनायें स्पष्ट हैं । कालीचरण पाण्डेय ने उठने वाले प्रश्नों और कठिनाइयों को विट्गेस्टाइन के दर्शन को उचित परिप्रेक्ष्य में न देखने का परिणाम माना है और अपनी व्याख्या से समाधान करने की चेष्टा की है । उसकी जाँच-परख विद्वानों के लिए चुनौती भरा आमन्त्रण है । उनके यह मानने से आपत्ति नहीं है कि अनुष्ठान द्वारा जो भावात्मक सन्तुष्टि मिलती है वह व्यक्तिनिष्ठ नहीं बल्कि समाजनिष्ठ होती है किन्तु क्या इसी आधार पर अनुष्ठान का औचित्य ठहराया जा सकता है ? आखिर सती प्रथा, हरिजन उत्पीडन, महिला शोषण भी तो समाजनिष्ठ ठहराये जाते रहे हैं । इसी प्रकार, उनकी यह मान्यता कि विट्गेस्टाइन के अनुसार अन्धविश्वास के अनुष्ठान और धार्मिक विश्वास के अनुष्ठान में भावात्मक सन्तुष्टि के आधार पर कोई अन्तर नहीं किया जा सकता लेकिन यह उनके दर्शन की समस्या नहीं क्योंकि अन्धविश्वास और धार्मिक विश्वास का अन्तर सैद्धांतिक समस्या न होकर व्यवहार की बात है, विट्गेस्टाइन के धर्म सम्बन्धी विचारों की सीमाओं की ओर इंगित नहीं करता क्या? फिर इसे महात्मा बुद्ध मौन के समान गौरवान्वित करने का प्रयत्न क्यों ?

अगला अध्याय विट्गेस्टाइन के नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण की स्पष्ट प्रस्तुति है। लेखक पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती विट्गेस्टाइन के नीतिशास्त्रीय विचारों में समानता और निरन्तरता पाता है । विट्गेस्टाइन यह मानते हैं कि नीतिशास्त्र पारलौकिक (ट्रान्सेन्डेन्टल) है और इसमें वे धर्म और सौन्दर्यशास्त्र को भी शामिल कर लेते हैं । उनके अनुसार नीतिशास्त्र, जो मूल्यवान् है, जो वस्तुतः महत्त्वपूर्ण है, जो जीवन मूल्यों से सम्बन्धित है और जो उचित जीवन पद्धति है, उसका अन्वेषण है । *लेक्चर ऑन इथिक्स* के अन्त में वे नीतिशास्त्र को मानवीय मस्तिष्क की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक प्रवृत्ति मान कर उसका स्वागत तो करते हैं किन्तु उसे इस अर्थ में अनभिव्यक्त भी मानते हैं कि नीतिशास्त्र के बारे में उस तरह विचार-विमर्श नहीं किया जा सकता, जिस प्रकार तर्कशास्त्र या तत्त्वमीमांसा के बारे में किया जा सकता है । नीतिशास्त्रीय प्रतिज्ञप्ति की सम्भावना को विट्गेंस्टाइन एक सिरे से ही खारिज कर देते हैं क्योंकि निरपेक्ष नैतिक मूल्यों की भाषाई अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है । चूँकि भाषा तथ्यात्मक होती है, इसलिए वह मूल्यात्मक विषयों को व्यक्त नहीं कर सकती । इन्द्रियानुभव और नैतिक अनुभूति में अंतर होता है । भाषा अपनी सीमाओं के कारण पर्याप्त रूप से इसकी विशिष्टता को स्पष्ट नहीं कर पाती । विट्गेंस्टाइन नीतिशास्त्र की अनभिव्यक्तता को तीन नैतिक अनुभूतियों द्वारा स्पष्ट भी करते हैं । लेखक यह मानते हैं कि तथ्यों और मूल्यों के बीच विभाजन की स्थापना को विट्गेंस्टाइन ने नीतिशास्त्र की अव्यक्तता की सिद्धि के लिए एक आधार की तरह प्रयोग किया । लेकिन फिर वे इस दृष्टिकोण की समालोचना करने से क्यू चूँक गये जो अन्य दार्शनिकों द्वारा की जा रही है । लगता है वे विट्गेंस्टाइन के नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से काफी दूर तक प्रभावित हैं । दिक्कत यह है कि तथ्य और मूल्य के बीच अलंघ्य दीवार मान लेने से नैतिक विमर्श की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है ।

विट्गेंस्टाइन के दर्शन का स्थान और प्रभाव की चर्चा करते हुए लेखक द्वारा उसे पाश्चात्य विश्लेषणात्मक दर्शन कें विकास की एक कडी के रूप में देखना उचित ही प्रतीत होता है क्योंकि तार्किक भाववाद और भाषा विश्लेषण ऐसे दो दार्शनिक आंदोलनों के पीछे विट्गेंस्टाइन ही प्रेरणास्रोत थे । लेखक ने रसेल एवं तार्किक भाववादियों से विट्गेंस्टाइन के विचारों की समानता और भिन्नता को सुन्दर ढंग से विश्लेषित किया है । हाँ, भाषादर्शन पर विट्गेंस्टाइन के प्रभाव की चर्चा में थोडा विस्तार अपेक्षित था । पहले *ट्रॅक्टेट्स* और फिर *इन्वेस्टीगेशन्स* के जरिये जिस दार्शनिक पद्धति का विट्गेंस्टाइन ने विकास किया उसका उद्देश्य लेखक के अनुसार, दार्शनिक समस्याओं का हल (सोल्यूशन) नहीं बल्कि उनका विलय (डिजोल्यूशन) हैं । किन्तु इसमें दार्शनिक समस्याओं का अन्त नहीं हो जाता, हाँ भाषा के त्रुटिपूर्ण प्रयोग से उत्पन्न भ्रमों का शमन अवश्य हो जाता है । भाषा की कार्यप्रणाली को गलत ढंग से समझने के कारण उत्पन्न दार्शनिक समस्याओं के निराकरण के चिकित्सीय कार्य के लिए विट्गेंस्टाइन का अवदान मानव के वैचारिक इतिहास की महत्त्वपूर्ण धरोहर है । उसका प्रभाव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दर्शन के इतर क्षेत्रों पर भी परिलक्षित होता है (जिसकी चर्चा इस पुस्तक में नहीं है) जैसे, विट्गेस्टाइन के जीवन-प्रकार और भाषा-खेल सम्बन्धी विचारों के स्वीकार से एक विशेष प्रकार का सांस्कृतिक सापेक्षवाद पनपता है जो किसी सार्वभौमिक मापदण्ड को नहीं स्वीकारता । यह सहिष्णुता का दर्शन है । मानवीय व्यवहार के प्रति विट्गेस्टाइन का यह नजरिया उसे कार्य-कारण की प्राकृतिक विज्ञान की परम्परा से अलग कर देता है । इसके परिणामस्वरूप समाज विज्ञान और मानविकी में अध्ययन पद्धति प्राकृतिक विज्ञानों की अध्ययन पद्धति भिन्न होना स्वाभाविक है ।

चूँकि लेखक युवा, कर्मठ और उत्साही हैं तथा यह उनकी पहली पुस्तक है इसलिए कुछ ऐसी कमियों का जिक्र भी जरूरी है जो अगले संस्करण में आसानी से दूर की जा सकती हैं । समय-समय पर अगल-अगल विषयों पर लिखे गये लेखों को एक पुस्तक का रूप देने में दो कठिनाइयों का सामना करना होता है । एक, दोहराव से बचना और दो, लेखों के मध्य वैचारिक तारतम्यता बनाये रखना । यह पुस्तक भी इस संरचनात्मक दोष से मुक्त नहीं है । यद्यपि लेखक ने अनावश्यक रूप से लम्बा आमुख लिखकर इसे कम करने का पूरा प्रयास किया है किन्तु सम्पादन की कमी कहीं-कहीं खटकती है । शायद यह प्रकाशन की जल्दबाजी में हुआ है । इसी से मुद्रण की कुछ भूलें भी रह गई हैं ।

प्रस्तुत पुस्तक की विशिष्ट उपलब्धि विट्गेस्टाइन के दर्शन की विभिन्न परस्पर विरोधी व्याख्याओं का सम्यक् विश्लेषण और समाहार का प्रयत्न है । यह कार्य बडी शिद्दत के साथ किया गया है, भले ही कहीं-कहीं इसमें लेखक की विट्गेस्टाइन के प्रति पक्षधरता दृष्टिगोचर होती है । इसे पुस्तक पढते हुए एक ताजगी-सी अनुभव होती है जो ऐसे विषयों पर लिखी पुस्तकों में दुर्लभ है । विट्गेस्टाइन के दर्शन के किस पक्ष पर कहाँ विवाद चल रहा है इसकी ताजी जानकारी किसी भी शोधार्थी के लिए उपयोगी हो सकती है । मेरा सुझाव है कि ऐसे ही कुछ अन्य लेख जो लेखक ने लिखे हैं, पुस्तक के अलगे संस्करण में शामिल किये जा सकते हैं जिससे विट्गेस्टाइन का यह अध्ययन पूर्ण हो सकेगा।

अंत में कालीचरण पाण्डेय एक कठिण और महत्त्वपूर्ण विषय पर सरल, सुगम और प्रवाहमय भाषा में पुस्तक लिखने के लिए बधाई के पात्र हैं । निश्चय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही हिन्दी भाषा के माध्यम से विट्गेंस्टाइन के दर्शन का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी इससे लाभान्वित होंगे । साथ ही दर्शन से इतर विषयों के छात्र एवं जिज्ञासु पाठक भी इसका समुचित उपयोग कर सकेंगे । अपनी पहली ही पुस्तक में उत्कृष्टता के मानदण्ड स्थापित कर उन्होंने जिस दार्शनिक प्रतिभा का परिचय दिया है उससे भविष्य में उनके प्रति अपेक्षायें बढ़ गई हैं । आशा है आगे भी वे इसी प्रकार हिन्दी के दार्शनिक साहित्य को समुन्नत करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते रहेंगे । पुस्तक का पेपरबॅक संस्करण शीघ्र अपेक्षित है जिससे यह विद्यार्थियों के बीच लोकप्रिय पुस्तक का स्थान पा सके ।

५३, अशराफ टोला, डॉ. आलोक टण्डन
हरदोई - २४१ ००१
फोन नं. ०५८५२-२३२६३७
E-mail : dralokboi@yahoo.com

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थ समीक्षा

तुलनात्मक दर्शन - एक सीमित टिप्पणि

तुलनात्मक दर्शन, सम्पादक : प्रोफेसर काली चरण पाण्डेय, (अखिल भारतीय दर्शन परिषद् हेतु प्रकाशन), विश्वविद्यालय प्रकाशन, गौर कॉम्प्लेक्स, परकोटा रोड, सागर - ४७० ००२ (म. प्र.), प्रथम संस्करण २००५, पृष्ठ : XIII+२+२७७+ ३, मूल्य रु. ३५०/-

प्रोफेसर कालीचरण पाण्डेय धर्मभशाला (हि. प्र.) में राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय के दर्शन विभाग के अध्यक्ष हैं, उन्होंने 'तुलनात्मक दर्शन' को अखिल भारतीय दर्शन परिषद् हेतु पिछले लगभग वर्ष २००४ के गाढ़ो सम्पादन विधि द्वारा, २००५ में इस ग्रंथ को प्रकाशित किया है । प्रो. पाण्डेय परिषद् के संयुक्त सचिव भी हैं, परिषद् के अधिवेशन में स्वामी प्रणवानंद व्याख्यान माला के पच्चीस वर्ष पूरे होने पर २००४ में पिछले पच्चीस वर्षों (१९८०-२००४) में विभिन्न अधिवेशनों में प्रस्तुत दार्शनिक प्रोफेसरों द्वारा ये व्याख्यान मूलतया तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा, उसके लिए समुचित विधि पर विमर्श और कभी-कभी विशिष्ट दार्शनिकों के तुलनात्मक अध्ययन से सम्बन्ध रखते हुए, तुलनात्मक दर्शन को गहराई प्रदान करने में सयत्न हैं । प्रो. पाण्डेय और उनके सहयोगी, अनुवादकों, प्रूफ रीडरों और हिन्दी गद्य के मार्मिक रसज्ञों द्वारा जिस निष्ठा से इस ग्रंथ का प्रकाशन परिषद् कर पाई है, यह अपने में परिषद् की अन्य अनेकों दर्शन सेवाओं के रहते हुए भी, एक भव्य उपलब्धि है, ऐसा कहना मुझे यहाँ जरुरी लगा, क्योंकि दार्शनिक विषयवस्तु के गूढ़ एवं विश्लेषणात्मक होते हुए भी, प्रकाशित लेखों की भाषा को त्रुटिहीन बोध-गरिमा के साथ प्रवाहवान् बनाए रखने में, सम्पादक, उसके सलाहकारों, प्रकाशक एवं प्रूफरीडरों का श्रम भी असंदिग्ध पहचाना जायेगा । पाठक ग्रंथ के विभिन्न लेखकों की अपनी शैली और विचारणा में एक सहज तैरती तेज़ भाषाई चुस्ती की सुखद अनुभूति पायेंगे। इसके लिए मैं ग्रंथ पर टिप्पणि लिखते हुए सहज मुक्तमन से प्रोफेसर पाण्डेयजी को इस सम्पादन दायित्व को सुचारू सफलता से पूरा करने के लिए एक सामान्य पाठक की भूमिका से साधुवाद देना चाहूँगा, साथ ही परिषद् के द्वारा ऐसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मीलपत्थर गाड़ने के लिए उसकी कार्यकारी समिति का भी अभिनंदन करना चाहूँगा। प्रकाशक, प्रूफ़रीडरों ने भी कोई विशेष खटकने वाली त्रुटियाँ नहीं छोडी। ग्रंथ में कम से कम सूक्ष्म निरीक्षण के बाद भी (दिखाई) नहीं रहने दीं । या हिन्दी में प्रकाशन व्यवस्था के प्रौढ होने का भी द्योतक हो सकता है । कुल मिलाकर दर्शन जगत्, विशेष रूप से हिन्दी पाठक प्रस्तुत रचना का स्वागत करेंगे, और तुलनात्मक दर्शन की चर्चा में उठी अवधारणात्मक जटिलताओं पर यदि कुछ पहल करें तो परिषद के मौलिक चिन्तन को भारतीय मनीषा में उन्मेश देने के लक्ष्य की ओर अग्रसर होंगे, ऐसी मेरी व्यक्तिगत राय है।

जैसा पुस्तक की प्रस्तावना में (पृ. १-४४) प्रो. पाण्डेयजी ने स्पष्ट किया है कि कुछ विशेष लेख जैसे प्रो. दयाकृष्ण : तुलनात्मक दर्शन ... अनुवाद यशदेवजी शल्य तथा स्वर्गीय प्रो. रा. द. रानाडे के दो लेख डॉ. हरि माधवशरण एवं वृज वल्लभसिंह द्वारा हुआ, प्रो. अरविंद कुमार राम का लेख भी इस प्रणवानंद व्याख्यानमाला की कडी नहीं थी, इसकी तुलनात्मक दर्शन की विधि परक विमर्श की उपादेयता के लिए स्वयं प्रो. पाण्डेय ने इसे सम्मिलित किया है । लगभग ६ व्याख्यानों का उपलब्ध न होना इसका संकेत है कि, समय गुजरा, मेरे अनन्य मित्र प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय और बसंतकुमार लाल जी दिवंगत हुए और प्रो. जगदीश स. श्रीवास्तव एवं प्रो. अजित शर्मा भी नहीं रहे । प्रो. रघुवंश झा, इन्द्र सिन्हा भी लेख भिजवा न सके ।

प्रस्तुत सामग्री को सम्पादन ने विषय को सुस्पष्ट प्रस्तुति प्रदान करने के लिए निम्न तीन गैर बराबर खण्डो में बाँटा है :

१. तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा एवं मीमांसा (१.१-१.१०, पृ. ४५-१५०)
२. भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों की तुलना (२.१-२.७, पृ. १५१-२०७)
३. भारतीय दार्शनिक प्रणालियों का तुलनात्मक अध्ययन (३.१-३.५, पृ. २०९-२७७)

उपर्युक्त संकेत से मैंने अपनी टिप्पणि लिखने के पहले विषयवस्तु की सम्पादन की प्रस्तुति से अपने पाठक को अवगत करा दिया । यह इसलिए भी जरुरी था, कि मैं विभिन्न खण्डों में उपस्थित सभी आलेखों पर कुछ-न-कुछ चर्चा नहीं कर पाऊँगा । मैं ऐसी रस्मी खानापूरी करने में अभ्यस्त भी नहीं हूँ। यह नहीं कि जिन आलेखों की चर्चा पर मैं यह टिप्पणि नहीं कर रहा हूँ, वे मूल्यवान् नहीं हैं, विपरिततः मेरी दृष्टी की, और चिंतन की अपनी सीमाएँ हैं,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हो सकती हैं, ऐसा करने, न करने पर वे हावी हो जाए तो शालीन लेखकों से पहले ही क्षमा माँगना श्रेयस्कर समझता हूँ। वैसे प्रो. पाण्डेय की ४४ पृष्ठ की प्रस्तावना ने काफी सीमा तक सारी सामग्री का सर्वेक्षण खुद उपर्युक्त ३ खण्डों से पहले ही दे दिया है। मात्र उस जैसी पुनरावृत्ति 'परामर्श' की मुद्रण सुविधा की मुझे बर्बादी ही लगती।

इसके पहले की मैं तुलनात्मक दर्शन में उपर्युक्त तीन खण्डों में उपस्थित २२ लेखकों के मन्तव्यों पर कुछ टिप्पणि करूँ यहाँ मैं निजी लेख (पृ. १३९-१५०) 'धार्मिक परम्पराएँ एवं मानववादी नैतिकता' (१.१०) पर कुछ और न कहूँगा। प्रो. पाण्डेय जी की चर्चा पर भी कोई अपनी प्रतिक्रिया यहाँ ठीक नहीं समझता। मैं, अब भी लगभग २५ वर्ष बाद उसी दृष्टि पर स्थित हूँ।

दूसरी बात टिप्पणि को मात्र तुलनात्मक दर्शन से प्रारम्भ करके प्रस्तुत चर्चित मन्तव्यों की चर्चा तक ही मैं सीमित न कर पाऊँगा। मुझे लगा की तुलनात्मक दर्शन का संदर्भ भी पहचानना जरुरी है। इस दृष्टि से तुलनात्मक भाषाशास्त्र, बहु-संस्कृतिवाद/तुलनात्मक सांस्कृतिक-अध्ययन, जिसमें धर्मों और उनकी विशिष्ट परम्पराओं का तुलनात्मक विवेचन भी किस विधि द्वारा किया जाए विचारणीय लगना चाहिए। एकरेखीय ऐतिहासिक विकासोन्मुखता बहुत सार्थक विधि नहीं दिखती।

* * *

इस पुस्तक की समीक्षा लिखने से पहले मुझे दर्शन की स्पष्ट स्वरूप की कुछ चर्चा जरुरी लगी। टिप्पणि तुलनात्मक दर्शन पर विद्वत् आलेखों पर कुछ विलम्ब से बाद लिखूँगा। मैं टिप्पणि को पाठक के सुग्राह्य प्रतिक्रिया के लिए थोडे में स्वयं दर्शन क्या है, प्रस्तुत करना चाहूँगा। दर्शन मेरे मन में व्यक्तिगत रुचिसापेक्ष या संस्कृति द्वारा जीवन के निर्धारित, अचिन्त्य मूल्यों या जीवन विधियों की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है। कभी-कभी विद्वान टीकाकार विट्गेन्स्टाइन की भाषाई प्रक्रियाओं में जीवन-वृत्त से सम्यक् माने जाने की सिफारिश से प्रायः भ्रान्त होकर बिना विवेचन के ही चिन्तन की ऐतिहासिकता, उत्पत्ति और उसकी युक्तिसम्मत आधार युक्तियों को भली प्रकार भिन्न आयामी तथ्य नहीं समझ पाते। इस कारण वे उत्पत्ति के संदर्भ को उपपत्ति के सही अवधारणात्मक आयाम से घपला कर जीवन और संस्कृति जो चिंतक और वैज्ञानिक, कलाकार, कवि, समान रूप से सभी के जीवनों में ठहरते हैं, उनके विशेष बौद्धिक एवं संज्ञात्मक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यापारों की समीक्षा में प्रयोग करते हैं, जो अत्यंत हास्यास्पद तरीके से चिंतन की गरिमा को क्षति पहुँचाता है । इस प्रकार के संयोगी तथ्य तालिकाओं से न व्याकरण, न गणित, न संज्ञान, न मूल्य, न काव्य या अन्य कोई भी मानव बौद्धिक अभिनिवेश निर्धारित या विवेच्य है । यह भ्रम है । फिर चाहे मार्क्स, कुन्ह या स्वयं स्पैंगलर अथवा अन्य उनके अनुयायी ऐसी सांस्कृतिक नियतिवादी व्याख्या दें सदा हास्यास्पद घपला ही देखी समझी जायेंगी, जानी चाहिए । इससे ज्यादा लिखने का औचित्य मैं नहीं देखता ।

एक मोटे उदाहरण से बात समाप्त । काव्य के मूर्त शब्द काली या हरी स्याही से लिख़खे जाने से क्या कविता के भाव 'डरावने' या 'प्रफुल्ल' हो सकते हैं? मैं इस शास्त्रीयता के लम्बे संवाद से गुजरकर टिप्पणि को लम्बा नहीं कर सकता। पाठक स्वयं निहितार्थ ग्रहण करें ।

मुझे स्पष्ट करना है कि दर्शन चिन्तन की सार्वभौम और बुनियादी अवधारणाओं को एकसूत्रता देने में संलग्न चिन्तन है । वह सभी संज्ञानात्मक व्यापारों के साथ-साथ मानव अस्मिता, समाज और संस्कृति को धारण और गरिमा दे सकने योग्य आयामों के सृजन की पूर्व मान्यताओं को भी एकसूत्रता विचार द्वारा ही दी जा सकती है । सुकरात ने सही सूत्र दिया था कि मानव अपरिक्षित जीवन यदि जिए वह मानव प्रतिमा की विकृति ही बटौरेगा । मैं समझता हूँ कि इस सुकाराती सूत्र से 'जीवन विधि' के सिद्धांतवादीयों को भली प्रकार विफल किया जा सकता है । वे कृपया संकुचित वृत्ति से बाहर आएँ ।

एक अत्यंत संक्षिप्त कथन मैं दर्शन के लचीले अवधारणात्मक तन्त्र पर भी लिखना चाहूँगा । जैसा स्पष्ट ही है कि बौद्धिक चिंतन के मूल आधार, भाषा, व्याकरण, युक्ति, गणित और विराट विज्ञानों द्वारा विभिन्न बौद्धिक प्रयोगों द्वारा इकठ्ठा किए गए भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक युगों संस्कृतियों और देशकालों से संकलित विचारणा में और दर्शन में मौलिक स्तर पर भेद हैं । वे सभी विशेष क्षेत्र की मूल प्रतिज्ञाओं, स्पष्ट परिभाषाओं, मौलिक युक्ति के सार्वभौम नियमों से शनैः शनैः संकलित उपपत्ति से विशिष्ट प्रमेयों का सर्जन करते हैं । दर्शन किसी भी तरह उनके आयामों पर ऐसा कोई अभिनिवेश नहीं है । वह न युक्ति, न व्याकरण, न ज्यामिति, न विज्ञान । अपितु इनमें विद्ध मौलिक चिंतन का बहुआयामी कोटियों और परामर्शों में सामंजस्य एवं एकसूत्रता वह ढूंढता है । इसीलिए विज्ञान की तुलना में यह अमूर्त दिखता है ।

* * *

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मैं अपनी टिप्पणि 'तुलनात्मक दर्शन' के प्रथम खण्ड में (१.१-१.९, पृ. ४७-१२९) चर्चित आलेखों में प्रतिपाद्य, उसकी अवधारणा, पद्धति या स्वरूप पर थोडा बिलम्ब से लिखूँगा । यहाँ मैं सर्वप्रथम प्रो. रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे द्वारा मूर्त दार्शनिक परम्पराओं की परस्पर तुलना के दृष्टांत के तौर पर भगवद्गीता और इमैन्युअल कांट (२.१, २.२) के निष्काम कर्म और अहेतुक आदेश क्रमशः कितनी वैचारिक तुलना हो सकती है और दर्शन जगत् और व्याख्या को इन दो सर्वथा स्वायत्त चिंतन परम्पराओं की परस्पर तुलनीय अवधारणाओं में साम्य या वैभिन्य का कितना स्पष्टीकरण प्राप्त होगा, प्रो. रानाडे ने जो सटीक ढंग से प्रस्तुत किया है, पर कुछ कहूँगा । उनकी तेजस्विता एवं अंतःदृष्टि अत्यंत मोहक हैं । डॉ. रानाडे, दोनों ही चर्चाओं में कर्तव्य मात्र की सार्वभौमिता की वकालत, प्रत्येक मानव को साध्य और स्वयं को साध्यों के सार्वभौम राज्य का नागरिक समझकर रागद्वेषमुक्त होकर शुद्ध बुद्धि से संकल्प करने को अहेतुक आदेश की व्याख्या देते हैं, चूँकि निष्काम कर्म भी रागद्वेष मुक्त होकर आध्यात्मिक या ईश्वरीय शरीर पर ही रखना चाहिए । उसे यज्ञ में रागमुक्त होकर निर्लिप्त रहकर, हमारा 'ईश्वर के लिए सभी सत्त्वों का बलिदान या त्याग है ' (पृ. १५८) उन्हें ये दोनों प्रत्यय तुलनीय लगे । मुझे नम्र निवेदन करना है कि कांट के नैतिक दर्शन में ईश्वर का उतना स्पष्ट प्रयोग नहीं है, जितना कि भगवद्गीता में ईश्वरवाद शुरू, मध्य और अन्त तक छाया दिखता है । कांट की अहेतुक आदेश की आधारभूमि हमारी स्वायत्त सद्चित्त की यौक्तिकता है । जिससे स्पष्ट है कि कांट में ईश्वर की अवधारणा न उतनी केन्द्रीय है, और न प्रतिपाद्य आहेतुक आदेश की धात्री । प्रो. रानाडे अपने विवेचन द्वारा कांट के द्वारा 'औदात्य' की परिभाषा का अत्यंत सशक्त तुलना गीता में अभिव्यक्त (११ वें अध्याय) विराट रूप जिसमें भय, शुचिता, अपरोक्ष अनुभूति और रहस्यानुभूति का अनुभव होता है सुंदरता से करते हैं । सौंदर्य उनके अनुसार मात्र क्रम, सन्तुलन, समरसता द्वारा ऐन्द्रिक प्रक्रियाओं से जनित अभिभूत होता है, जबकि 'औदात्य' हमें तूफान युद्ध, अग्नि, भूचाल, बाढ, महामारी की विभीषकाओं को भूलकर प्रकृति में छिपी 'औदात्य' की शक्ति और शुचिता की रहस्यानुभूति ग्राह्य है । उन्होंने कबीर, ज्ञानेश्वर और कन्नड के भवतारक की रहस्यानुभूति से इसे गीता में विराट् रूप की अर्जुन की अनुभूति से तुलना करके, स्पष्ट किया कि बिना ऐसी रहस्यानुभूति के हमें सामान्य जगत् की सहज संवेदनाओं उक्त महती

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विराजती परमात्मा की उपस्थिति कभी भी प्रदत्त नहीं होती । यह साक्षात्कार रहस्यानुभूति का केन्द्रीय गूढ आधार है । अन्त में ज्ञानेश्वर की एक उक्ति प्रो. रानाडे इस औदात्य की समीक्षा में देते हैं (पृ. १६२) '... कल्पना कीजिए, एक सूर्य दूसरे सूर्य के सामने उदय हुआ, तब कौन प्रकाशक है, और कौन प्रकाश्य ? अस्तु, जब कृष्ण और अर्जुन ऐक्यभाव की स्थिति में हो गये तो मैंने कहा कि संजय ने मेरा तादात्म्य उनसे पा लिया...' प्रो. रानाडे अपनी मेधावी रहस्यानुभूति की वकालत से कांट को भी 'ओपस पास्थुमस' के आधार पर (पृ. १६८-९) सूफी बना डालते हैं । हम सामान्य युक्ति के कायल डॉ. रानाडे के प्रति अति विनम्र रहकर इसे 'तुलना' न मानकर उनकी रहस्यानुभूति की वकालत ही कहेंगे ।

* * *

प्रोफेसर राधाकृष्णन, राजू और दयाकृष्ण जी की सम्भवतया तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा के क्रमिक गम्भीर विकास में खासी भूमिका रही है, जो अब इस ग्रंथ के प्रकाशकों ने मुक्त मन से सराही एवं स्वीकार की है । इसी प्रकार यशदेव शल्य जी, स्वर्गीय रेवतीरमण पाण्डेय और अरविंद कुमार राय जी के पैने आलेख भी दर्शन के आज सार्वभौम संदर्भों में विभिन्न उपलब्ध दार्शनिक परम्पराओं के परस्पर तुलनात्मक अध्ययन में किस प्रकार समुचित और सशक्त विश्लेषण विधि और मापदण्ड द्वारा प्राप्त कराए जा सकते हैं, पर मूल्यवान् प्रस्ताव किए हैं । उनमें, इन्हीं परम्पराओं के परस्पर साम्यों, विशिष्टताओं और परस्पर समन्वय की सम्भव प्रक्रिया द्वारा क्या हम तुलनात्मक दर्शन द्वारा अधिकारी विवेचन द्वारा किसी विशिष्ट परम्परा को 'हेय' या 'श्रेष्ठ' न ठहरा कर उनके बीच से ही जिम्मेदार सार्वभौम दार्शनिक समस्याओं का अधिकारी निरूपण कर पायेंगे? कई आलेखों में ऐसी सम्भावना पर बल दिया गया है । डॉ. शुक्ला, प्रो. अशोक वर्मा ऐसे वैश्वक दर्शन को एक उपलब्धि और युगीन माँग ठहराते हैं । प्राच्य-पाश्चात्य विश्वदृष्टि को क्रमशः आध्यात्मिक संवेद्य एवं योक्तिक विश्लेषणात्मक वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक कहने वाले प्रो. नार्थराय और आर्थर कोसलर भी इनकी परस्पर पूरकता की आवश्यकता पर बल देते हैं । ऐसी मानववादी सार्वभौमिक समन्वय की वकालत प्रो. राधाकृष्णन तथा प्रो. चार्ल्स ई. मूर द्वारा स्थापित हवाई स्थित ईस्ट-वैस्ट सैन्टर से भी पिछले कोई दशकों से शोध प्रकाशकों में छपती रही है। युनेस्को भी अखिल भूमण्डलीकृत समसामयिक संदर्भ में शान्ति परस्पर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनमिल सांस्कृतिक परम्पराओं में सहयोगी सुसंवाद के लिए विभिन्न दर्शन परम्पराओं में विराट् आदान-प्रदान की अनिवार्यता पर बल देता रहा है । ये समसामयिक भूमण्डलीय मानव जीवन की सहज जरुरत है कि दर्शन जो विभिन्न दृष्टियों, सांस्कृतिक मान्यताओं और आचार की नियामक अवधारणाओं का आधारभूत तात्त्विक पूर्व प्रतिज्ञाएँ उपलब्ध कराता है, उनका निष्पक्ष, युक्तिसंगत, समस्यामूलक तुलनात्मक विश्वलेषण एवं मूल्यांकन किया जाए। पर ये किस प्रकार निष्पक्ष बने, और प्रत्येक तुलनात्मक विश्लेषण बिना आक्रमक आक्रोश या संयोगिक राजनैतिक, आर्थिक गैरबराबरी के दुर्भाग्यपूर्ण संदर्भों में हीन भावना से मुक्त हों और पूर्ण सद्भावनाओं से 'अन्य' परम्परा की सशक्त अभिव्यक्ति दे, को उजागर करे । ये ही प्रो. दयाकृष्णजी और शल्यजी के आलेखों का विशेष प्रस्ताव है इसे सभी दर्शन अध्ययन में रत सह-धर्मी निर्विवाद पायेंगे । किन्तु एक शंका इस 'परम्परा' का सुरक्षात्मक स्वायत्तता को लेकर यहाँ मैं इस टिप्पणि में उठाना चाहूँगा । क्या प्रो. दयाजी और शल्यजी दर्शन को किसी संस्कृति से मुक्त मापदण्ड से मूल्यांकित करने से अनिवार्यतया परहेज करेंगे ? क्यों हम दर्शन की व्याख्या में गणित, युक्ति और विज्ञान के समक्ष कोई सार्वभौम़ मानदण्ड गढने में समर्थ नहीं हैं ? क्या संस्कृति सापेक्षता से पृथक् कोई दर्शन विचारणा सार्वभौम सत्यान्वेषण से जुड ही नहीं सकती ?

प्रो. दयाकृष्ण निम्न युक्ति संस्कृति एवं चिन्तन और विशेष तौर पर पिछले कई सौ सालों के औपनिवेशिक वर्चस्व फलस्वरूप पाश्चात्य दर्शन को ही अन्य जातियों, भाषाओं और विचारणाओं में अर्जित दर्शन परम्पराओं के विवरण, व्याख्या और मूल्यांकन के लिए मात्र समसामयिक युरोपीय प्रतिमानों को ही संस्कृतिमुक्त मानदण्ड मानकर, हम अपनी परम्पराओं के साथ सौतेला व्यवहार करते हैं । उन्हें विकृत एवं विरूपित करके अपनी आन्तरिक अस्मिता की अनदेखी कर रहे हैं । इसे कमोबेशी प्रस्तुत खंड के विद्वानों में समान रूप से स्वीकारा गया है । उदाहरणार्थ, शल्य जी (पृ. ९१-९२) रेवती रमण पाण्डेय (पृ. ११५) तथा प्रो. अरविंद कुमार राय 'तुलना बनाम अतुलना....' आलेख में 'सादृश्य' और 'मूल्यांकन' के अर्थ में समुचित तुलना और 'अतुलना' पर कई पैनी एवं संगत स्थापनाएँ प्रस्तुत करते हैं । उनके अनुसार " 'पूर्वमान्यता' और 'तुलना' के बीच सम्बन्ध द्वंद्वात्मक होता है, पूर्वमान्यता के बिना तुलना सम्भव नहीं होती और तुलना के बिना यथार्थ पूर्वमान्यता सम्भव नहीं होती ।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रो. दयाकृष्ण अपने आलेख में पाश्चात्य अवधारणाओं को सभी अन्य दर्शन जो अन्य सांस्कृतिक प्रतिमानों में विकसित हुए की व्याख्या के लिए मात्र 'विषय' बनता आपत्तिजनक पाते हैं, केवल पाश्चात्य दर्शन के मानदण्ड विषयी और मूल्य आधारों की कसौटी द्वारा उन्हें निरूपित करें एक अति-संकुचित स्थानीय कसौटी को सार्वभौम बने प्रतिमाने ये उन्हें तनिक भी यथेष्ट नहीं लगता। उन्हीं के शब्दों में '(वे) पाश्चात्य विचारकों द्वारा पाश्चात्य अवधारणाओं के अनुसार ऐसी देखी परखी जाती हैं जैसे वे उनकी सांस्कृतिक विषयतामूलक नहीं होकर सार्वभौम हों । ... पाश्चात्य ने बहुत कुशलता से ज्ञान व्यापार केवल अपने को ही विषयी पद पर अधिष्ठित कर लिया है और शेष सब संस्कृतियों को विषय रूप में स्थापित कर दिया है । (पृ. ५३)'

आगे चलकर इस संस्कृति-सापेक्षता को लेकर प्रो. दयाकृष्ण, स्पैंगलर, विट्गेन्स्टाइन्न और थॉमस कुन्ह के सांस्कृतिक संरचना के परम सापेक्षतावादी दृष्टिकोण का प्रयोग तुलनात्मक दर्शन के विकास में पहचाने की जरुरत पर खासा बल देते हैं । उनके अनुसार 'ये केवल पाश्चात्य प्रारूपों (मॉडेल्स) के सार्वभौमिकि वे सर्वाभौम प्रतीत होते हैं, संस्कृति केंद्रीत नहीं, जो वे वास्तव में वे हैं .... कुन्ह की प्रस्थापना है एक ही संस्कृति जिसकी एक ही भाषा है तथा इतिहास है दो भिन्न अवधारणात्मक संरचनाओं के बीच सामंजस्य करना असम्भव है, किन्तु जब संस्कृतियाँ, भाषाएँ और इतिहास भी आधारभूत रूप से भिन्न हो तब तो उनके बीच अनुरूपता, प्रतिरूपता अथवा मूल्यांकन सम्भव ही कैसे हो सकता है' (पृ. ५५)

प्रोफेसर अरविंद कुमार राय (पृ. ६१) विचार का संकेत प्रतीक में अन्तर्निहित है, मानते हैं वे कैशेर के भाषाई प्रतीकों को मूल आधार, अर्थ का वाहक और साधक उससे छूट कर स्वयं मुक्त अर्थ की कोई सम्प्रेषणीयता हो ही नहीं सकती । ऐसे भाषीय व्याख्यात्मक संदर्भ भाषा देती है । इसी विचारणा को शल्य जी भी स्पैंगलर और विट्गेन्स्टाईन के 'भाषा जीवन विधि' और सारी अर्थवत्ता के आयाम को विशिष्ट भाषा की विलक्षण योग्यता एवं आकांक्षा द्वारा निर्मित मानते हुए सार्वभौम अवधारणाओं को अमूर्त ठहराते हैं ।(पृ. ४२)

शल्य जी ने तुलनात्मक दर्शन को दर्शनों का दर्शन भी बनाया है । (पृ. १०५) 'क्या दर्शन और तुलनात्मक दर्शन में भाषा और पराभाषा के समानान्तर कोई सम्बन्ध है ? .... अगर है तो पराअध्ययन के सहजस्फूर्त.... शास्त्रीयता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के नियामक क्या है ..: वहीं' ।

आगे चलकर शल्यजी सामान्य पाश्चात्य कसौटियों के प्रयोग को तुलनात्मक दर्शन के अध्ययन का वैचारिक औपनिवेशिकता कहने से नहीं घबडाते (पृ. ७७)। काफी चर्चा और विकल्पों पर प्रश्नचिह्न लगाते शल्य जी का आलेख आखिर तक ये स्थापित करता है कि जब तक हम किसी आदर्श दर्शन की अवधारणा को प्रामाणिक न सिद्ध कर दें 'तुलनात्मक दर्शन के अध्ययन की सम्भाव्यता ही उद्भूत नहीं होगी ।' (पृ. ७६) अन्य प्रकार के फुटकर सादृश्यों की पकड मात्र ऐतिहासिक कौतुहल से ज्यादा गम्भीर नहीं होगी । इस शल्य जी की चर्चा में कई अन्य विचारणीय मुद्दे हैं। प्रमुखतया वे जो तथ्य सांस्कृतिक पूर्वमान्यता पर आधारित विभिन्न भारतीय दर्शनों में वैशिष्ट्य को इंगित कर कभी तुलनीय बनाते हैं । शल्य जी ने इस संदर्भ में क्रमशः सांख्य के परिणामवाद, अद्वैत के विवर्तवाद और माध्यमिक बौद्धों के शून्यवाद की तुलना कई जगत्, ब्रह्म, परमार्थ, आत्म प्रवसन के विषयों में परिवारिक समता ढूँढते हुए की हैं । (पृ. १००-१०१) विस्तार में जाते हुए भी शल्य जी के प्रखर विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि जब तक मूल मुद्दा, अवधारणात्मक संरचनर और जागतिक दृष्टि में निम्नतम परिवारिक साम्य न हों मात्र भाषाई पदों की खींचतान से कोई तुलनात्मक समीक्षा या विचारणा नहीं उगती । यह एक ऐसा निष्कर्ष है, जिसे मात्र ऐतिहासिक अथवा बाह्य संयोगों से हटकर अवधारणात्मक मन्तव्यों की पारस्परिकता पर आधारित होना चाहिए । सतह पर नागार्जुन सभी दृष्टिकोणों को अनधिकारी ठहराते हैं, जबकि सांख्य प्रकृति केंद्रीत और अद्वैत अविद्या और विवृत्त आच्छादित ब्रह्मकारण पर वे सभी परमार्थ, मोक्ष और आत्मशुद्धी की अभीप्सा के विकल्पों पर पृथक् विश्लेषण दे रहें हैं, इस सामान्य संदर्भ में उनके बीच मतभेद बुद्धिगम्य बनते हैं । शल्य जी की चर्चा दयाकृष्ण और राय की चर्चा को पूर्वमान्यताओं की अनिवार्यताओं का रेखांकन करके तुलनात्मक दर्शन के विषय को गहराई देती है । वैसे मैं नहीं मानता की दर्शन के प्रसार में सुकरात, प्लेटो, विट्गेन्स्टाईन, कांट वैशेषिक, न्याय, अरस्तु, जैन, बौद्ध, अद्वैत, सांख्य और अनेकों उपलब्ध विचारणाओं में मुद्दे, प्रणाली, युक्ति और अवधारणाओं के बीच बिना अतिशय सांस्कृतिक रुग्ण कठ्ठमुल्लई के किसी भी दर्शन पाठ्य को निष्ठा से अध्ययन, मनन करके वालों को ऐसे पारस्पारिक पारिवारिक साम्यों का अभाव झेलना पडे जिसके फलस्यरूप इन परम्पराओं को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दर्शन पुरस्कृत करने में हिचकिचाहट हो । या वे अतुलनीय पाया जाएँ ।

इस दृष्टि से मेरे मित्र स्वर्गीय डॉ रेवती पाण्डेय द्वारा इस सारगर्भित चर्चा में (पृ. ११४-१५) 'वाद न्याय' की व्याख्या भारतीय दर्शनों की तुलनीयता और सूक्ष्म शास्त्रीयता की संक्षिप्त परन्तु अत्यंत सार्थक प्रस्तुति है । वे अब नहीं रहे। (वे कभी मेरी कक्षा में बैठा करते थे) मुझे उनकी उबलब्धियों पर गर्व है। उनके शब्द में '.... समूचा भारतीय वाङ्मय-साहित्य, इतिहास, पुराण, दर्शन, आयुर्वेद यदि नव्य न्याय की परिष्कार शैली पर नहीं लिखा गया, तो उसे शास्त्र के रूप में स्वीकृति सादर प्राप्त नहीं होती थी'। (पृ. ११५)

अत्यंत सीमित उल्लेख मुझे डॉ. अम्बिका दत्त शर्मा के आलेख पर करना जरूरी लगता है क्योंकि उन्होंने मेरे लिए प्रिय मित्र स्वर्गीय कालीदास भट्टाचार्य के दर्शन में वैकल्पिक दृष्टिकोणों की परस्पर पूरकता पर कुछ समीक्षा लिखी है, उस पर पुनर्विमर्श की गुंजाईश महसूस करता हूँ । वे कहते हैं कि ".... भट्टाचार्य यह भूल जाते हैं कि दो वैकल्पिक दार्शनिक दृष्टियों मैं तुलना नहीं हो सकती क्योंकि यह स्थापना भी तुलना के पश्चात निर्धारित होती है .... लेकिन दृष्टि सम्प्लव (ओपन व्ह्यू पॉईंट) के परिप्रेक्ष्य में इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता की वैकल्पिक दार्शनिक दृष्टियों का प्रकट भेद और अप्रकार समानता किसी एक ही मूल पर प्रतिष्ठित है । मुझे खुशी होती यदि प्रो. शर्मा निम्न वैकल्पिक दृष्टि क्रिया-संबंधी विचारणा में जैसी द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तथा फ्रायड प्रतिपादित मनोविश्लेषण हैं वे किसी मूल पर प्रतिष्ठित हैं अन्वेषित कर पाते ।" ... दर्शन चर्चा वस्तुनिष्ठ हों जैसा आज के शीर्ष विश्लेषक विट्गेन्स्टाईन माने थे, तोही वस्तुतः मूर्त विचारणाओं की परख आगे बढेगी । शर्मा में नए शोध की सम्भावना उभरें, मैं यही आशा करूँगा ।

प्रस्तुत टिप्पणि में प्रो. मराठे के द्वारा दर्शन की शिक्षा, भाषाओं की जानकारी और मनन की निष्ठा पर बल दिया गया है, वे एक आचार्य रहे हैं, उनके दृष्टिकोण से उनकी चेतावनी मुझे समचीन लगी । कोरी, सतही सुनी सुनाई तुलनात्मक दर्शन की पैरवी से भारत की समसामयिक पीढी परहेज करें मैं प्रा. मराठे जी से पूर्णतया सहमत हूँ । डॉ. मराठे सभी दर्शनों को उनके पार्श्वस्थित सांस्कृतिक बोध से अलग करके मात्र अमूर्त अवधारणा के मापदण्ड से सार्वभौम वैश्विक दर्शन बनाने की सम्भावना को हेय मानते हैं (पृ. ७९) । उनकी आपत्ति 'दर्शन' और उसके समूचे विकास की परिस्थितियों को परस्पर अलगाव करके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चिंतन की अन्दरुनी एकता के साथ ज्यादती करेंगी, ये अस्वीकार्य होना चाहिए।

बाकी टिप्पणि में मुझे विशेषतया खंड दो के प्रो. नित्यानंद मिश्र (२.४, पृ. १७७-१८३) पर कुछ कहना है । हुसर्ल बीसवीं सदी में फेनोमेनालिजिकल आन्दोलन के जनक माने जाते हैं । उन्होंने तत्कालीन व्यवहारवाद एवं वैचारिक तत्त्वविद्या से हटकर चित्त की मूर्त संवृत्ति का पुरस्कार करने की ठानी । प्रो. मिश्र इसमें और शांकर अद्वैत वेदान्त में तुलना आधार अपने आलेख में टटोलते हैं, मुझे लगता है कि चूँकि दोनों की विचारणा के उद्गम और पूर्वमान्यताएँ भिन्न हैं, उनके बीच 'चित्त' की सत्ता की पदावली से अलग दोनों परम्पराओं में पारिवारिक साम्यों का अभाव हैं । वे स्वयं भी निम्न निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, जब वे कहते हैं कि शंकर जब यह कहते हैं कि पारमार्थिक स्तर पर चेतना विषयहीन है तो वे अपने को चैतन्य की उचित व्याख्या करने में असमर्थ कर देते हैं । अतः उनका पक्ष दार्शनिक दृष्टि से दुर्बल हो जाता है । .... इस दृष्टि से हुस्सर्ल का ही चैतन्य संबंधी विचार स्वीकार योग्य प्रतीत होता है । ' प्रो. मिश्र का निष्कर्ष शंकर की कूटस्थ सत् की अवधारणा की पृष्ठभूमि और ब्रह्म की पूर्वमान्यता को जायजा नहीं ले तो जो मात्र प्रकाशत्व है । हुस्सर्ल की समूची मौलिकता को मानते हुए भी प्रो. मिश्र की कांट की चेतना की विभिन्न एकताओं से ही फेनोमेनॉलाजीकल पुनर्गठन की स्मृति और पुनः प्रतिभिज्ञान की व्याख्या को निस्सरित करना सम्यक् होता ... (पृ. १०८-१८१)

मैं खंड तीन में क्रमशः आचार्य रघुनाथ गिरी 'उदयनाचार्य की ईश्वर सिद्धि प्रक्रिया' (३.१, पृ. २११-२२३), प्रो. हृदयनारायण मिश्र 'माया की अवधारणा : नागार्जुन और शंकर' (. २२४-२३५) और सागरमल जैन जी की 'अनेकान्तवाद की भारतीय चिंतन परम्परा' में तुलनात्मक आलेख पर कुछ संक्षिप्त टिप्पणि करूँगा । (३.३, पृ. २३६-२५५) । इन तीनों आलेखों में इस खंड के अनुरूप सहज भारतीय जीवन दृष्टि और लम्बी पूर्वपक्ष, खण्डन, सिद्धांत इत्यादि की परिचित प्रणाली साम्य होने के फलस्वरूप तुलनात्मक विश्लेषण सहज एवं स्वाभाविक हुआ हैं । इसी बात को यशदेव शल्यजी के पैने लेख में हम अपनी टिप्पणि में पीछे संकेत कर चुके हैं जब उन्होंने मार्मिकता से सांख्य, अद्वैत और माध्यमिक दर्शन में परिणामवाद, विर्वतवाद और शून्यवाद की तुलना (पृ. १०१) की थी । यह केवल संयोग नहीं है कि मूर्त तुलनात्मक दार्शनिक विश्लेषण एवं मूल्यांकन होने के लिए सामान्य वैचारिक पृष्ठभूमि का पारस्परिक सामंजस्य होना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनिवार्य है । इस खंड में विपुल सैद्धांतिक भेदों की चर्चा होते हुए इन चर्चित आलेखों से स्पष्ट है कि इनके उठाए गए दार्शनिक दृष्टिकोणों में सहज मौलिक पार्श्व वैचारिक एकता है जिसके रहते हुए उनके परस्पर भेद भली प्रकार साझी परम्परा के अवयव माने जा सकते हैं । साथ ही इन आलेखों के पढने और मनन से तुलनात्मक दर्शन की सीमा और मानक कसौटियों का निरूपण करने में किसी भी दर्शन अध्येयता को सहायता मिल सकेगी ।

एक बार फिर कहूँ मेरी टिप्पणि सम्पूर्ण नहीं है । मुझे दुख है कि अन्य मूल्यवाद आलेखों का अपनी अक्षमता और प्रमाद फलस्वरूप मैं जायजा नहीं ले सका । वे सहृदय विद्वान प्रणेता मेरी अक्षमता को माफ कर देंगे । अस्तु ।

* * *

टिप्पणि निष्कर्ष

तुलनात्मक दर्शन भी दार्शनिक परम्पराओं के समीचीन आलोचन एवं मूल्यांकन की बौद्धिक प्रक्रिया है । किन्तु यह विवेचन आलोचन.आलोच्य परम्पराओं में वास्तविक एवं वस्तुतः अवधारणात्मक सादृश्य, विपरितता या मुद्दे की समानता है या नहीं, प्रामाणिक परम्परागत पाठ के द्वारा मुक्त मनन द्वारा पूरी तरह निश्चित करना तुलना करनेवाले अध्येयता का प्राथमिक बौद्धिक दायित्व है । मात्र संयोगिक भाषाई पदावली के उथले विफल अनुवाद हमें अत्यांत अवास्तविक चर्चाओं में भी फँसा सकते हैं । सावधान रहना परिपक्वता का सुलक्षण है ।

साथ ही, सुस्पष्ट चिंतन की अभीप्सा को उसके अवधारणात्मक तन्त्र में पूरी निरपेक्ष सम्प्रेषणीयता से ग्रहण न करने पर अत्यंत निरर्थक नतीजे निकाले जायेंगे। हमें सदा सचेतरूप से किसी भी विचार के अपने आयाम उद्घाटित करने चाहिए । चूँकि अन्योन्य दार्शनिक मात्र 'तत्त्वज्ञान', 'सत्', 'चैतन्य' की ही चर्चा नहीं करते, वे कभी अनीश्वरकी, कभी प्रमाण, कभी पुरुषार्थों तो कभी युक्ति के औजारों की परिभाषा एवं संरचना में भी दत्तचित्त पाए जाते हैं । कभी किसी समय उनका चिन्तन प्रभावी तौर पर इन विविध अवधारणात्मक स्तरों पर परस्पर गड्डमड्ड भी हो जाए, तो हमें इस टिप्पणि में पूर्वचर्चित 'लचीलेपन' को ध्यान में रखकर, उनके अर्थ-अभिनिवेश का एक आयामिक विवेचन देना चाहिए ।

फ्लैट ३८-ए, स्वास्तिकविहार, डॉ. धमेन्द्र गोयल
पंचकूला - १३४१०९ हरियाणा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिंदी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से संबंधित विवरण (फॉर्म ४ नियम ८ देखें)

फॉर्म ४ (नियम ८ देखें)

१. प्रकाशन स्थान	:	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे - ४११००७
२. प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचंद्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे - ४११००७ भारतीय.
४. प्रकाशक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचंद्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे - ४११००७ भारतीय.
५. संपादकों के नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचंद्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे - ४११००७ भारतीय.
६. उन व्यक्तियों/संस्थाओं के नाम और पते जो समाचार पत्र के स्वामी हो	:	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे - ४११००७

मैं सुभाषचंद्र एकनाथ भेलके एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य हैं ।

सुभाषचंद्र एकनाथ भेलके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

* पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें । लेख प्रायः २००० शब्दों से अधिक न हो। लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

* परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इस में विशुद्ध चिंतनपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी ।

* यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।

* प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं। यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।

* पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा ।

* अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुनः प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचन्द्र भेलके ने यह त्रैमासिक 'विमर्श', सोमवार पेठ, पुणे ४११ ०११ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २५ अंक २-३ मा.-अ.२००५

	:	संपादकीय	१
डॉ. मोहित टण्डन	:	लॉक के दर्शन में 'व्यक्ति' और व्यक्तिगत तादात्म्य	३
डॉ. सुधा चौधरी	:	कांट का 'निजरूप वस्तुओं' और परासत्ताओं का सिद्धान्त अर्थात् तर्क बुद्धिवाद के उत्तराधिकारी एवं आलोचक के रूप में कांट	१३
डॉ. विजय कुमार सिन्हा	:	सार्त्र के अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद में मानव-विचार – एक दार्शनिक गवेषणा	२०
नंदिनी सिंह	:	सर्ल के संदर्भ में चेतना तथा उसके ज्ञान की असंभाव्यता के दृष्टिकोण का दार्शनिक विवेचन	२९
रवींद्र कुमार सिंह चौधरी	:	कंप्यूटर विज्ञान और दार्शनिक चिंतन	३५
डॉ. अर्चना श्रीवास्तवा	:	वैदिक रहस्यवाद एवं पाश्चात्य रहस्यवाद	४५
डॉ. मनोज कुमार तिवारी	:	योगवासिष्ठ में जीवन्मुक्ति	६७
डॉ. रनजीव कुमार	:	अर्थनिर्णय के भारतीय और पाश्चात्य सिद्धांत : तुलनात्मक विमर्श	८५
सुरेन्द्र वर्मा	:	भाषाई प्रयोग और आत्मा का स्वरूप	१०१
डॉ. विनोद कुमार चौधरी	:	भारतीय वाङ्मय में भाषा का स्वरूप	१०४
डॉ. आलोक टण्डन	:	ग्रन्थ समीक्षा	११०
डॉ. धमेन्द्र गोयल	:	ग्रन्थ समीक्षा : तुलनात्मक दर्शन - एक सीमित टिप्पणि	१२०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.